सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला—११

कर्मवाद और जन्मांतर

अनुवादक

लल्लीप्रसाद पाण्डेय

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संवत् १९८६]

[मूल्य २।)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd..
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.
Benares-Branch

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीत-सिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्री नाहर-सिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महा-रावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारीजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पति-वियोग दोनों का

असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्य काल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

निवेदन

कर्मवाद और जन्मांतर के लेखक बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक श्रीयुक्त हीरेंद्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०, वेदांत-रत्न हैं। इसमें लेखक ने प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों के प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर वर्ण्य विषय का प्रतिपादन किया है। पाठक देखेंगे कि लेखक ने स्वयं शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है और ऐसा करने में यदि कहीं द्विरुक्ति हो गई है तो उसकी उन्होंने इसलिये उपेक्षा की है कि विषय भली भाँति स्पष्ट हो जाय।

पुस्तक में कहीं कहीं अँगरेजी के अधिक अवतरणों को देखकर केवल हिंदी जाननेवाले पाठकों को चिन्ता न करनी चाहिए; क्योंकि आगे-पीछे अथवा साथ ही उसका हिंदी रूपांतर मौजूद है। बात यह है कि अधिक शंकालु प्रायः अँगरेजी पढ़े लिखे लोग ही होते हैं इसलिये कदाचित् लेखक ने अँगरेजी प्रमाणों का प्रयोग करना आवश्यक समझा है।

हिंदी में इस ढँग की पुस्तकें बहुत थोड़ी हैं और हीरेंद्र बाबू की जिन पुस्तकों का हिंदी में रूपांतर हुआ है उनका हिंदीवालों ने खासा आदर किया है, इसलिये मैंने उनकी इस प्रसिद्ध पुस्तक के विचारों को हिंदी-रूप देने का प्रयास किया है। इसकी भाषा में जहाँ तहाँ कुछ कठिन शब्द मिलेंगे, किंतु

उसके लिये लाचारी थी। गहन दार्शनिक विषय को सर्वथा सरल भाषा में व्यक्त करना सुगम कार्य नहीं है। कुछ पारिभाषिक शब्द भी आ गए हैं जिनके बिना काम नहीं चल सकता था। मैं समझता हूँ कि यह सब होते हुए भी जो लोग इसे पढ़ेंगे उनको, विषय के समझने में, कठिनाई न होगी।

इस पुस्तक के अनुवाद और संशोधन आदि में मुझे जिन हितैषियों से सहायता मिली और सुधार-सूचना प्राप्त हुई है उन सबके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ।

सागर
मकर संक्रांति, १९८५ वि० } लल्लीप्रसाद पांडेय

विषय-सूची

कर्मवाद

जन्मांतर

———

कर्मवाद

प्रथम अध्याय

कर्मवाद की युक्ति

आर्य ऋषियों ने योग-सिद्ध प्रतिभा के बल से जिस अपूर्व प्रज्ञामंदिर की रचना की थी उसके शिखर पर निर्वाण की ज्योति है और उसकी नींव कर्मवाद और जन्मांतर पर स्थित है। हम पहले कर्मवाद की छान-बीन करेंगे। कर्मवाद की युक्ति क्या है ?

संसार को देखने से मालूम होता है कि साम्यवादी लोग कुछ ही क्यों न कहा करें, किंतु इस जगत् में वैषम्य ही वैषम्य है। साम्यवादी लोग इस बात को अस्वीकार नहीं करते; बल्कि उनका लक्ष्य और आदर्श तो विषमतापूर्ण जगत् से विषमता को हटाकर साम्य की प्रतिष्ठा करना है। जगत् की विचित्रता का अनुभव सभी को है। विचित्रता असल में विषमता का दूसरा नाम है। इस विचित्रता या विषमता का भेद और परिमाण कैसा है ?

प्राचीन लोग जगत् को दो प्रधान श्रेणियों में विभक्त करते थे—चर और अचर। संस्कृत ग्रंथों में 'चराचर विश्व' सुपरिचित शब्द है। चर का अर्थ है चलने-फिरनेवाला, जंगम, अचर का अर्थ है अपनी जगह से न हटनेवाला, स्थावर। स्थावर-

जंगम असल में चराचर का दूसरा नाम है। अँगरेजी में इसका पर्याय है (Inorganic और Organic) निरंग और सांग। मिट्टी, पत्थर, स्थल, जल, पहाड़, नदी, धातु आदि सभी स्थावर पदार्थ हैं। जिनका संगठन तो परमाणुओं से हुआ है किंतु हैं प्राणहीन वे सभी अचर या स्थावर हैं। इनके भेदों का लेखा लगाना मनुष्य-शक्ति से बाहर का काम है। जब स्थावर में ही इतनी विचित्रता है तब भला जंगम के भेदों का हिसाब ही कौन लगा सकता है? जंगम के प्रधान रूप से दो भाग हैं; उद्भिज (Vegetable) और जीव (Animal)। उद्भिजों की शाखा-प्रशाखाओं की गणना नहीं की जा सकती। जीवों का श्रेणी-निर्देश करने में वैज्ञानिक पंडित लोग कीड़े, पतंगे, सरीसृप, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि का उल्लेख करते हैं। प्राचीन लोग जंगम पदार्थ के प्रधानतया चार भाग करते थे—स्वेदज, उद्भिज, अंडज और जरायुज। जंगम वही है जिसमें प्राण हैं और कोषाणुओं (Cell) से जिसकी देह गठित है। कौन हिसाब लगा सकता है कि जीव की प्रत्येक श्रेणी में कितनी उपश्रेणियाँ हैं और प्रत्येक जाति में कितनी उपजातियाँ हैं? अब यदि प्रत्येक उपजाति के अंतर्गत व्यक्तियों के पार्थक्य पर ध्यान दिया जाय तो उनकी विचित्रता से सचमुच विमूढ़ होना होगा। पशुओं के ऊपर जिस प्रकार मनुष्यसृष्टि है उसी प्रकार मनुष्यसृष्टि के ऊपर देवसृष्टि है। उस सृष्टि को सब लोग नहीं देख सकते। किंतु अगोचर का उपदेश

देनेवाले शास्त्रों और दिव्य दृष्टिवाले साधुओं के मुँह से इस विषय का जो परिचय मिलता है उससे जान पड़ता है कि देवसृष्टि की विचित्रता के आगे मनुष्यसृष्टि की विचित्रता तुच्छ है। उस विचित्रता का विचार करने से हिंदू शास्त्रोक्त तेंतीस करोड़ देवताओं की गिनती अत्युक्ति नहीं जान पड़ती बल्कि वास्तविक संख्या से बहुत कम ही जँचती है। अतएव मुक्त-कंठ से कहा जा सकता है कि जगत् बहुत ही वैषम्यमय है।

कुछ जीव में ही देहगत विषमता नहीं है, प्रत्युत जीव की प्रकृति और भोग के विषय में भी वैषम्य देख पड़ता है। औरों की चर्चा छोड़कर मनुष्य को ही लीजिए। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में बहुत ही अंतर देख पड़ता है। कोई सुखी है तो कोई दुखी, कोई धर्मात्मा है तो कोई अधर्मी और कोई बुद्धिमान् है तो कोई बिलकुल मूर्ख—यह भेद सदा देख पड़ता है। सच तो यह है कि एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में जातिगत सादृश्य के अतिरिक्त और किसी बात में समता नहीं देख पड़ती। क्या भोग, क्या स्वभाव और क्या आचरण—सभी बातों में बहुत अधिक विषमता है।

ऐसा क्यों है? जगत् में इतनी विषमता किसलिए है? सभी जीवों को एक सा सुख क्यों नहीं है? सभी की बुद्धि, विवेक, स्वभाव और धारणा एक सी क्यों नहीं है? ईश्वर ने ही तो इस जगत् को बनाया है! और भगवान् हैं करुणामय! अतएव उन्होंने सबको एक सा क्यों नहीं बनाया? एक से

भोग, एक से सुख, एक सी बुद्धि और एक से धर्म का अधिकारी सबको क्यों नहीं बनाया ? वे तो सर्वशक्तिमान् हैं। अतएव उनमें सामर्थ्य की कमी नहीं हो सकती। और जब वे करुणामय हैं तब उनमें प्रवृत्ति न होने की भी संभावना नहीं। इस दशा में, प्रवृत्ति और शक्ति दोनों के होते हुए भी जगत् की रचना में उन्होंने ऐसी विषमता क्यों की ? तो क्या भगवान् पक्षपाती हैं ? उन्होंने क्या पक्षपात करके किसी को भला और किसी को बुरा बना दिया है ? यह भी संभव नहीं है; क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है—'मेरे लिए सभी जीव एक से हैं; न मुझे कोई प्रिय है और न अप्रिय।' (समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।—गीता ९। २९) फिर इस विषमता का निर्णय किस प्रकार हो ?

आधुनिक ईसाइयों का विश्वास है कि पृथिवी में जितने मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे सब भगवान् की नित-नई सृष्टि हैं। अर्थात् माता के गर्भ में पहुँचने से पहले उस जीव का कुछ भी अस्तित्व न था। प्रतिदिन जितने जीव उत्पन्न हुआ करते हैं उनमें से प्रत्येक को ईश्वर नए सिरे से बनाता है। मजा यह है कि ईसाई लोग आत्मा के अजर अमर होने का विश्वास करते हैं। अर्थात् उनकी राय में आत्मा का जन्म तो है किंतु मृत्यु नहीं है; उत्पत्ति तो है किंतु विनाश नहीं है; आदि तो है किंतु अंत नहीं है। इस मत के माननेवाले लोग जगत् की विषमता का किसी प्रकार का सूत्र नहीं ढूँढ़ सकते। और

जब कि वे नास्तिक नहीं हैं तब ईश्वर को अवश्य ही करुणामय और सर्वशक्तिमान् मानते हैं। इस प्रकार मान लेने से इस वैषम्य समस्या का समाधान करना उनके पक्ष में अत्यंत कठिन हो जाता है; क्योंकि इस बात का वे कोई उत्तर नहीं दे सकते कि करुणामय ईश्वर ने सर्वशक्तिमान् होकर भी जगत् में इतनी विषमता क्यों फैला रखी है।

पश्चिमी देशों में इसका फल बड़ा विषमय हुआ है; क्योंकि विषमता का कोई अच्छा निर्णय न होने से यूरोप की बुद्धि विपथगामिनी हो गई है। वहाँ किसी किसी विद्वान् ने ईश्वर का संपर्क इसलिये छोड़ दिया है कि उन्होंने ईश्वर को कठोर, निर्मम और जीव के दुःख में उदासीन समझ लिया है। वे कहते हैं कि एक ईश्वर है तो सही किंतु उसने संसार को बना करके इसकी कार्यावली के संबंध में पूरी पूरी उपेक्षा ग्रहण कर ली है और जीव के दुःख, क्लेश, यातना आदि में सहानुभूति न दिखाकर वह स्वर्ग में एकांत में बैठा हुआ निष्ठुर हँसी हँस रहा है। भला आस्तिकता का इससे बढ़कर शोचनीय परिणाम और क्या हो सकता है? दूसरी ओर जड़वादो नास्तिकों ने यदृच्छावाद (Chance) की अवतारणा करके इस विषमता की जड़ का पता लगाया है। उनकी राय यह है कि परमाणुओं के आकस्मिक संघात से इस विचित्र विश्व की उत्पत्ति हुई है। जीव असल में देह के सिवा और कोई चैतन्य-वस्तु नहीं है। मस्तिष्क के कार्य-कलाप का प्रत्यक्ष फल

आत्मा है। इस मत की दृष्टि से जगत् का जीव जिस प्रकार आकस्मिक है उसी प्रकार विषमता भी आकस्मिक है (due to chance)। इस विषमता के लिये अंध जड़ परमाणु ही दायी हैं। उस अंध जड़ को दायी बनाने में लाभ ही क्या है ?

उस प्रकार के मत का प्रचार होने से पाश्चात्य देश अशांति और असंतोष की लीला-भूमि हो गया है। अपनी दशा से किसी को संतोष नहीं है। सभी सोचते हैं कि सारी सुखसंपदा पर जिस प्रकार दूसरे का अधिकार है उसी प्रकार उसका भी है। दूसरे सुखी हैं, फिर वही एक किसलिये दुखी है ? दूसरे मालदार हैं, वह गरीब क्यों है ? दूसरे मालिक हैं, वह चाकर क्यों है ? सब लोग ऊँचे पर हैं, वह नीचे क्यों है ? दूसरे के साथ समान होने का उसे न्याय्य अधिकार है। उसे उसके न्याय्य अधिकार से समाज और शासन ने वंचित कर रखा है। प्रबल को दुर्बल करने में ही उसकी बहादुरी है। इस भाव में पाश्चात्य जनता के अनुप्राणित हो जाने से ही यूरोप में इतने झगड़े-बखेड़े और विप्लव होते हैं। इसी से Nihilism, Anarchism प्रभृति समाज-द्रोह की उत्पत्ति हुई है। साहित्य में भी इसी भाव की प्रतिष्ठा हो जाने से एक विशाल निराशा-साहित्य (Literature of Despair) की उत्पत्ति हुई है। उस निराशा-संगीत से सारा यूरोप मुखरित है। पाश्चात्य साहित्य-मंदिर का एक बड़ा कमरा

इस निराशा-साहित्य से सजा हुआ है। इसका फल यह हुआ है कि चिरप्रचलित दुःख-वाद (Pessimism) सर्वग्रासी नैराश्य के घने अँधेरे में परिणत होकर यूरोप के विशाल आकाश में विराजमान है।

यूरोप के दर्शनशास्त्र ने भी जगत् की इस विषमता की आलोचना की है। जिन दार्शनिकों ने इसकी छान-बीन की है उनमें लाइबनिट्ज़ (Liebnitz) और कैंट (Kant) का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लाइबनिट्ज़ कहते हैं कि सृष्ट पदार्थमात्र ससीम होगा; क्योंकि सृष्टि कहते ही सीमा का ज्ञान होता है। सीमाहीन सृष्टि हो ही नहीं सकती। अतएव जीव जब सृष्ट पदार्थ है तब वह भी ससीम हुआ। जहाँ ससीम हुआ तहाँ असंपूर्ण होना ही पड़ेगा। और जीव जब असंपूर्ण है तब पाप करना उसके पक्ष में निश्चित है; और पाप का फल दुःख बना बनाया है। अतएव जब सृष्ट पदार्थों से ही संसार बना है तब उस संसार में दुःख तो रहेगा ही। जगत् में दुःख होने से यह सिद्धांत स्थापित करने की कोई युक्ति नहीं रह जाती कि सर्वशक्तिमान् सर्वतः पूर्ण परमेश्वर ने इस जगत् को नहीं बनाया है।

लाइबनिट्ज़ ने जितनी बातें कही हैं उनमें यही दिखलाया है कि ईश्वर-सृष्ट जगत् में दुःख को स्थान किस प्रकार मिला है। किंतु उन्होंने विषमता का क्या समाधान किया? सभी जीव अपूर्ण हैं। तब कोई-कोई, अल्पबुद्धि के वश होकर और

असत् प्रकृति की प्रेरणा से, पाप करके दुःख क्यों भोगते हैं? और दूसरे सुबुद्धि के वश होकर, शुद्ध प्रकृति की सहायता से, सुख क्यों पाते हैं? मतलब यह कि जीव के स्वभाव और भोग में इतनी विषमता क्यों है? लाइबनिट्ज़ इस प्रश्न का कोई बढ़िया उत्तर नहीं दे सके।

दार्शनिक कैंट (Kant) का उत्तर भी इससे बढ़कर संतोष-जनक नहीं है। वे कहते हैं, पुण्य के फल से सुख और पाप के फल से दुःख, यही नैतिक जगत् की धारा (Moral order of the Universe) होनी चाहिए। किंतु संसार में कई बार पुण्य के साथ दुःख लिपटा हुआ देख पड़ता है; और पुण्य का अभाव सुख मिलने में बाधक नहीं होता। इस विरोध के सामंजस्य के लिये हमें मान लेना पड़ता है कि देहांत के पश्चात् भी आत्मा जीवित रहता है और परलोक में पाप-पुण्य तथा सुख-दुःख का सामंजस्य होता है। कैंट (Kant) ने इस विश्वास को व्यावहारिक बुद्धि का स्वयंसिद्ध (Postulate of Practical Reason) स्वरूप कहा है।

कैंट के कथन में प्रतिवाद करने योग्य कुछ नहीं है; किंतु पूछना यह है कि उन्होंने इस मत-वाद का प्रचार करके जगत् में क्या वैषम्य-समस्या का निर्णय कर लिया?

पाश्चात्य दार्शनिक की सहायता से जब इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला तब देखना चाहिए कि भारतीय तत्त्वविद्या इसका

क्या उत्तर देती है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने सत्य को उपलब्ध करके जीव के हितार्थ जिस सत्य-समुच्चय का प्रचार किया है उसमें यह कर्मवाद एक प्रधान सत्य है। ऋषियों के मत से आत्मा अज, नित्य, पुरातन, सत्य वस्तु है; आत्मा के लिये न तो जन्म-मृत्यु है और न उत्पत्ति या विनाश। फिर भी बार-बार देह से उसका संयोग और वियोग होता है। यही जन्मांतर है। जीव ने कुछ यही पहले पहल जन्म नहीं लिया है; इसके पहले भी उसके अनेक जन्म हो चुके हैं और आगे भी अनेक जन्म होंगे। जीव इस जन्म में जिस प्रकार पाप-पुण्य करता है, जिस प्रकार शुभ और अशुभ वासनाओं को चित्त में रखता है, जैसे भले-बुरे विचारों को हृदय में स्थान देता है वैसा ही उसने इसके पहले के जन्मों में किया था। उसी उसी भावना, वासना और क्रिया के फल से, उसके इस जन्म की प्रकृति और भोग नियमित हुआ है; अर्थात् उसने जैसा कर्म किया है वैसा फल उसे मिला है। इस विषय में न तो ईश्वर का रत्ती भर पक्षपात है और न उसमें करुणा की कमी है। भगवान् ने कर्म के अनुसार फल की व्यवस्था कर रखी है। जीव अपने अच्छे कर्मों के फल से सुखी और बुरे कर्मों के फल से दुखी हुआ है। वह यदि पिछले जन्मों में शुभ वासना और सत् भावना से प्रभावित रहा है तो इस जन्म में शुभ बुद्धि और सुप्रवृत्ति के साथ उसका जन्म हुआ है। और यदि पिछले जन्मों में दुर्वासना और कुभावना से वह लिप्त रहा है तो इस

जन्म में अशुभ बुद्धि और कुप्रवृत्ति लेकर उसने जन्म लिया है। यही कर्मवाद की मोटी बात है। जगत् की विषमता समझाने के लिये ऐसा अच्छा मत दूसरा नहीं है। इस संबंध में महर्षि वादरायण ने वेदांतसूत्र में यही सिद्धांत स्थापित किया है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।

—ब्रह्मसूत्र, २।१।३४

इसके भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि जगत् में किसी-किसी को अत्यंत सुखभोगी, किसी-किसी को अत्यंत दुःखभोगी और किसी-किसी को मध्यम अवस्था में देखा जाता है सही, किंतु इससे ईश्वर का पक्षपात अथवा उसकी करुणा का अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि भगवान् किसी वस्तु की अपेक्षा न करके सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। वे तो जीव के संचित कर्म अथवा भाग्य पर ध्यान रखकर ही विषम सृष्टि करते हैं। अतएव जीवगत कर्म का तारतम्य ही वैषम्य-सृष्टि का वास्तविक कारण है; ईश्वर तो निमित्तमात्र है।

सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्म्मिमीते। किमपेक्षते इति चेत्। धर्माधर्मौ अपेक्षते इति वदामः। * * देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतानि एव असाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवं ईश्वरः सापेक्षत्वात् न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति।

इस सूत्र के भाष्य में रामानुजाचार्य ने यह पराशर-वचन उद्धृत किया है—

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि ।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥

'सृज्य पदार्थों की सृष्टि में ईश्वर तो निमित्त मात्र है; असल में सृज्य जीव की शक्ति ही (कर्म) सृष्टि का प्रधान कारण है'। भागवत के द्वितीय स्कंध में भागवतकार ने सृष्टि के पक्ष में तीन कारण बतलाए हैं—काल, स्वभाव और संस्कार। स्वभाव से मतलब है जगत् का जड़ उपादान—प्रकृति; संस्कार = जीव का अदृष्ट या संचित कर्म। जब प्रलय के अंत में पर्यायक्रम से सृष्टि का काल उपस्थित होता है तब भगवान् जीव के अदृष्ट को अवलंबन करके प्रकृति के परिणाम में विचित्र सृष्टि की रचना करते हैं। अतएव कर्म ही सृष्टि की विषमता का प्रधान कारण है।

मीमांसक लोग भी कर्म की प्रधानता मानते हैं। उनके मत से भी कर्म ही विषमता का जनक है; किंतु वे लोग कर्म के ऊपर अधिक जोर देकर ईश्वर तक को उड़ा देना चाहते हैं। उनके मत से कर्म ही स्वतः प्रवृत्त होकर (automatically) फल उत्पन्न करता है। इसमें ईश्वर का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। वे भूल जाते हैं कि जड़ कर्म विधाता के विधान बिना कुछ भी नहीं कर सकता। इसी कारण ईश्वर को निमित्त कहा गया है। ईश्वर को कर्मफल का विधाता कहने से दंड और पुरस्कार का नियंता नहीं कहा गया है। प्रचलित ईसाई धर्म में दंड-पुरस्कार (Reward and Punishment) के साथ ईश्वर का

घनिष्ठ संबंध देखा जाता है। ईसाइयों का ईश्वर गोया ईर्ष्यान्वित ईश्वर (Jealous God) है! इस प्रकार ईश्वर को जीव के पाप-पुण्य के निर्णयकर्ता के पद पर प्रतिष्ठित कराया जाता है। वह प्रत्येक जीव के पुण्य और पाप को तौल करके सुख-दुःख का विधान करता है।

कर्मवाद इस रूप में ईश्वर के विधातृत्व को स्वीकार नहीं करता। जान पड़ता है कि इसी श्रेणी के मत का खंडन करके मीमांसकों ने कर्मफल की स्वतःसिद्धि प्रकट की है। ईश्वर-निर्दिष्ट विधान के अनुसार कर्म अपना फल देता है। यदि कोई आग में कूद पड़े तो वह अवश्य ही जल जायगा; इसके लिये ईश्वर के हस्तक्षेप करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई पुण्य-कार्य करता है तो उसका सुखभोग सुनिश्चित है; इसके लिये ईश्वर को निर्णयकर्ता के आसन पर बिठाने की आवश्यकता नहीं।

जगत् में देख पड़नेवाली विषमता का समाधान कर्मवाद की सहायता से किया जाता है सही, किंतु उससे सृष्टि के प्रारंभ में जो विषमता प्रवर्तित थी उसका कारण बतलाया जाना क्या संभव है? शास्त्र में सृष्टि का जैसा विवरण दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि जगत् में पहले से ही विषमता मौजूद है। उद्भिज के पशु, मनुष्य और देव—जीव के ये भेद आरंभ से ही थे।

तस्मात् च देवा बहुधा संप्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥—मुंडक, २ । १ । ७

'उससे सृष्टि के आरंभ में देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी—ये विविध पदार्थ उत्पन्न हुए'।

तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।—मुंडक, २ । १ । १

'उस अक्षर (परमेश्वर) से विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं'।

पहले कहा गया है कि कर्मवैचित्र्य ही इस विषमता का कारण है। देहधारी जीव के सिवा कर्म कौन करेगा? सृष्टि के पहले तो जीव का देह के साथ संयोग रहता नहीं है। तब कर्म आवेगा कहाँ से? और कहा यह जाता है कि ईश्वर जीव के कर्म की अपेक्षा करके ही सृष्टि-वैषम्य का विधान करते हैं। इस आपत्ति का उत्तर देना हिंदू के लिये बहुत ही सहज है; क्योंकि हिंदू शास्त्र के अनुसार सृष्टि अनादि है। वर्त्तमान सृष्टि से पहले भी असंख्य बार सृष्टि हुई है और आगे भी यह सिलसिला जारी रहेगा। जिस प्रकार अंकुर से बीज और बीज से अंकुर होता है उसी प्रकार कर्म से सृष्टि और सृष्टि के लिये कर्म है। इस विषय में ब्रह्मसूत्र का निर्णय इस प्रकार है—

न कर्माविभागात् इति चेत् न अनादित्वात् ।
—ब्रह्मसूत्र, २ । १ । ३५

इसका शंकर भाष्य है—

नैषः दोषः अनादित्वात् संसारस्य। भवेद् एष दोषो यदि आदिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजांकुरवत् हेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते।

पतंजलि ने भी योगसूत्र में यही बात कही है—

तासां अनादित्वम् चाशिषोनित्यत्वात्—४। १०

जन्मांतर के प्रसंग में हमें इस बात की दुबारा आलोचना करनी होगी। अतएव यहाँ अधिक विस्तार न किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

कर्म और कर्मफल

कर्म क्या है ? अंतर्दृष्टि करने पर हम देखते हैं कि आत्मा की तीन शक्तियाँ हैं; ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति।

> परास्य शक्तिर्विविधा च माया,
> स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।
> —श्वेताश्वतर, ६। ८

'इस (आत्मा) की परा शक्ति और विविध माया है; ज्ञानशक्ति, बल (इच्छा) शक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीनों स्वभावसिद्ध हैं'।

शक्ति का प्रकाश क्रिया से होता है। आत्मा की ये जो तीन शक्तियाँ हैं इनका प्रकाश किसमें है ?

ज्ञानशक्ति की क्रिया चिंतन (Thought) है; इच्छा-शक्ति की क्रिया वासना (Desire) है; और क्रियाशक्ति की क्रिया चेष्टना (Action) है। अतएव, आत्मा से जो तीन शक्तियाँ उद्भूत होती हैं उनका प्रकाश चिंतना, वासना और चेष्टना द्वारा होता है।

क्रियामात्र की प्रतिक्रिया है—Action मात्र का Reaction है। यह वैज्ञानिक नियम प्राकृतिक जगत् के संबंध में जैसा सत्य है वैसा ही आध्यात्मिक जगत् के संबंध

में भी है, क्योंकि जगत् सभी जगह नियम के अधीन है। क्या आध्यात्मिक और क्या प्राकृतिक, क्या चित् और क्या जड़, जगत् में कहीं भी इस नियम का व्यत्यय नहीं है। इस त्रिविध क्रिया—चिंतन, वासना और चेष्टना—का साधारण नाम कर्म है। कर्मफल कर्म से स्वतंत्र नहीं है। कर्मफल कर्म का ही उत्तररूप है और कर्म कर्मफल का पूर्वरूप है। कर्म करने से उसका फल होगा ही, यह स्वयंसिद्ध बात है। अतएव चिंतन, वासना और चेष्टना का कर्मफल अवश्यंभावी है।

कर्म करने से केवल कर्ता को ही स्वगत (Subjective) फल नहीं होता; बल्कि उसका परगत (Objective) फल भी अपरिहार्य है। कर्म का स्वगत फल दो प्रकार का है—संस्कार और अदृष्ट। आत्मा की जो शक्ति जिस समय सक्रिय (Kinetic) होती है उस समय वह उसके उपयुक्त उपाधि में स्पंदन उत्पन्न करती है। क्रियाशक्ति के प्रकाश का क्षेत्र अन्नमय कोष (Physical body) है; इच्छाशक्ति के प्रकाश का क्षेत्र प्राणमय कोष (Astral body) है; और ज्ञानशक्ति के प्रकाश का क्षेत्र मनोमय कोष (Mental body) है। अतएव चिंतन करने से मनोमय कोष के, वासना से प्राणमय कोष के और चेष्टना से अन्नमय कोष के स्पंदन उत्पन्न होते हैं। यदि ये स्पंदन प्रबल हों तो उसके फल से स्पंदित कोष के उपादान आंदोलित होकर स्थानच्युत हो सकते हैं। तब कोषभ्रष्ट उपादान के स्थान पर नए उपादान

आ जाते हैं। इस प्रकार कोष का परिवर्तन हो जाता है और उल्लिखित स्पंदनों का संस्कार उन कोषों में संस्कार रूप में रह जाता है। यही कर्म का स्वगत फल है।

स्पंदन किस प्रकार संस्कार के आकार में स्थायी हो सकता है, इसका दृष्टांत हमारे लिये अपरिचित नहीं है। हम जिसे स्मृति कहते हैं, जिसके फल से पूर्वानुभूत वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) होती है, वह स्मृति संस्कार के सिवा और है ही क्या? स्मृति की यह करामात हम प्रतिदिन देखते हैं। प्राकृतिक जगत् में भी संस्कार के कुछ कम दृष्टांत नहीं हैं। फ़ोनोग्राफ़ यंत्र के समीप यदि कोई गीत गाया जाय तो वह शब्द-संस्कार के रूप में उस यंत्र में रक्षित रहता है; पीछे युक्ति से उसका उद्बोधन करने पर वही गीत फिर श्रुतिगोचर हो जाता है। हमारे अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषों में चिंतन, वासना और चेष्टना का जो संस्कार जम जाता है उसका भी यही हाल है।

इन तीन कोषों के ऊपर उन्नततर जीव में और भी तीन सूक्ष्मतर कोष हैं। उनके नाम हैं विज्ञानमय, आनंदमय और हिरण्मय कोष। ये तीनों कोष आत्मा की उच्चतर, अंतरतर शक्ति के क्रियाक्षेत्र हैं। उन तीनों शक्तियों का नाम संधिनी, ह्लादिनी और संवित् है। आत्मा सच्चिदानंद है। आत्मा के सत् भाव का विकास संधिनी शक्ति में है; इस शक्ति का प्रकाश हिरण्मय कोष में होता है। आत्मा

के आनंद भाव का विकाश ह्लादिनी शक्ति में है; इस शक्ति का प्रकाश आनंदमय कोष में होता है; आत्मा के चित् भाव का विकाश संवित् शक्ति में है; इस शक्ति का प्रकाश विज्ञानमय कोष में होता है। इन तीनों सूक्ष्मतर कोषों में भी शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप स्पंदन होता है। इस क्रिया के भी स्वगत और परगत फल हैं। साधारण जीव में आत्मा का सच्चिदानंद भाव सोलहों आने अव्यक्त है। फलतः उक्त सूक्ष्मतर तीनों कोष भी अस्पष्ट रहते हैं। अतएव कर्म और कर्मफल की साधारण आलोचना में इनकी चर्चा करने का प्रयोजन नहीं है।

जिस कोष में स्पंदन उत्पन्न होता है उस कोष को स्पंदित करके ही स्पंदन रुक नहीं जाता। उपयुक्त वाहन (Medium) की सहायता से स्पंदन चारों ओर प्रवाहित होकर समजातीय वस्तु में प्रतिस्पंदन उत्पन्न करता है। यही कर्म का परगत फल है। जिस प्रकार शब्द; एक वीणा की तंत्री में आघात करने से कुछ वही तंत्री स्पंदित नहीं होती; किंतु वह आघातजनित स्पंदन दिगंत में फैलकर अन्यान्य तंत्रियों को भी स्पंदित कर देता है। इसी प्रकार हमारी भावना, वासना और चेष्टना चारों ओर प्रवाहित होकर दूसरों के संबंध में भी कार्यकारिणी होती हैं। यही कर्म का परगत (Objective) फल है।

इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करता कि हमारी चेष्टना (Action) किसी दूसरे को इष्टकारी या अनिष्टकारी होती है, या दूसरे को सुभाव से अथवा कुभाव से स्पंदित करती है।

वास्तव में सदा से धर्मशिक्षक लोग सत् दृष्टांत के सुफल और असत् दृष्टांत के कुफल को घोषित करते आ रहे हैं। इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। किंतु क्या हमारा चिंतन और हमारी वासना भी दूसरे के संबंध में फलप्रद होती है? बहुत लोग समझते हैं कि यदि हमारी चेष्टा सत् है तो चिंतन और वासना कितनी ही असत् क्यों न हो, उसके द्वारा हमारा ही अनिष्ट होगा, दूसरे की तिल भर भी हानि होने की नहीं। ऐसे ही अच्छे विचार और सुवासना के द्वारा भी हमारा ही हित हो सकता है, इससे किसी की हानि नहीं हो सकती। महाकवि मिल्टन ने कहा है कि देवता का और मनुष्य का चित्त कुवासना और कुभावना की तरंग से आंदोलित हो सकता है किंतु उसके द्वारा कोई स्थायी अनिष्ट होने की आशंका नहीं। यह मत ठीक नहीं है। जिस प्रकार शब्द का स्पंदन एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रवाहित होकर प्रति-स्पंदन उत्पन्न करता है उसी प्रकार चिन्तन और वासना का स्पंदन भी एक के मस्तिष्क से दूसरे के मस्तिष्क में और एक के मन से दूसरे के मन में पहुँच जाता है। इसको Telepathy या Thought Transferrence कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अब यह समझना प्रारंभ कर दिया है कि Thought Transferrence कुछ काल्पनिक पदार्थ नहीं है कई वर्ष पहले वैज्ञानिकप्रवर सर ओलिवर लॉज ने इस संबंध में आलोचना करके 'रिव्यू आव् रिव्यूज' पत्रिका में लिखा था

कि Thought Transferrence के संबंध में अनेक परीक्षाओं के फलस्वरूप इसकी सत्यता इस प्रकार प्रमाणित हुई है कि अब इसे वैज्ञानिक तथ्य के रूप में इँगलैंड की प्रधान विज्ञान-सभा में उपस्थित किया जा सकता है। एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में विचार का संचरित होना तनिक भी अवैज्ञानिक नहीं है। विज्ञान ने अब Wireless Telegraphy की प्रतिष्ठा कर दी है। केवल विज्ञानशाला की परीक्षा के लिये नहीं, बल्कि सभ्य जगत् के कार्यक्षेत्र में भी अब Wireless Telegraphy का व्यवहार होता है। तार की सहायता लिये बिना अब समुद्र पार का सम्भाषण प्रतिदिन की साधारण बात है। विगत महायुद्ध में बेतार के तार से बहुत अधिक काम लिया गया था। Telepathy आध्यात्मिक Wireless Telegraphy के सिवा और कुछ नहीं है। Wireless Telegraphy में जिस प्रकार एक स्थान पर Conductor वा चालक और अन्य स्थान पर Receiver या ग्राहक यंत्र रहता है और आकाश दोनों के बीच में संयोगतंतु का प्रयोजन सिद्ध करता है उसी प्रकार Thought Transferrence में भी एक मस्तिष्क चालक होता है और दूसरा मस्तिष्क ग्राहक, तथा दोनों के बीच में भावना का विनिमय हुआ करता है। अतएव देख पड़ता है कि हमारे विचार और हमारी इच्छा एक मन से दूसरे मन में संचारित हो सकती है। फलतः चेष्टना के विषय में हमारा जैसा दायित्व है, वासना और विचारों

के विषय में भी वैसा ही है। क्योंकि सुविचारों और सुवासना के द्वारा जिस प्रकार हम दूसरे का हित कर सकते हैं उसी प्रकार बुरे विचारों और कुवासना के द्वारा हम दूसरे का अनिष्ट भी कर सकते हैं। इससे समझा जा सकता है कि आशीर्वाद और अभिशाप किस प्रकार कारगर होते हैं और धर्मात्मा लोग शत्रु के संबंध में भी क्यों हिंसा-द्वेष का भाव छोड़कर मैत्री और करुणा का भाव रखने के लिये कहते हैं*। इसी लिये मसीह अपने शिष्यों से कहते थे कि यदि कोई किसी स्त्री के विषय में कामवासना रखे तो उसे व्यभिचार दोष लगता है। श्रीकृष्ण ने गीता में भी मन के संयम का बार बार उपदेश दिया है और जो लोग बाहर से क्रिया-संयम करके भीतर ही भीतर कामना के भक्त बने रहते हैं उनको मिथ्याचारी कहा है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

—गीता, ३। ६

'जो कर्मेंद्रियों का तो संयम करता है किंतु मन ही मन कामना की वस्तु का ध्यान किया करता है वह मूढ़ व्यक्ति कपटाचारी है।' अतएव सिद्ध हो गया कि चिंतन, वासना

---

* इस संबंध में डाक्टर एनी बेसेंट लिखित "Path of Discipleship" के चौथे अध्याय में और मिस्टर सी० डबल्यू० लेडबीटर कृत Introduction to Theosophy ग्रंथ के ८६वें पृष्ठ में विस्तृत आलोचना है।

और चेष्टना का केवल स्वगत (संस्कार रूप) फल ही नहीं होता किंतु इनका परगत फल भी होता है।

यह कर्म का साक्षात् (Immediate) फल है। कर्म का परोक्ष (Mediate) फल भी होता है। उसे भाग्य या अदृष्ट कहते हैं। अपने कर्म के द्वारा हम दूसरे के साथ नाता जोड़ते हैं। एक आदमी ने किसी को मार डाला या उसके प्राणों की रक्षा की। इसके फल-स्वरूप उस हत अथवा रक्षित व्यक्ति के साथ उसका एक अतींद्रिय संबंध स्थापित हो गया। प्रथम स्थान पर वह हत व्यक्ति के निकट ऋणी हुआ; और दूसरे स्थान पर रक्षित व्यक्ति उसका ऋणी हुआ। चित्रगुप्त के बहुत पुराने खाते में यह लेन-देन दर्ज रहेगा। जब तक यह ऋण बेबाक न हो जायगा तब तक हिसाब चलता रहेगा। हत्यारे को हत होना पड़ेगा ही; रक्षित को रक्षा का काम करना पड़ेगा ही। इसी प्रकार कर्म का फल भोगना पड़ता है। जब तक इस फल का भोग पूरा नहीं हो जाता तब तक कर्म का नाश नहीं होता,—करोड़ों कल्प क्यों न बीत जायँ।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है,—वह कर्म चाहे पुण्य हो चाहे पाप। बिना भोगे उससे पिंड नहीं छूटता।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
शुभाशुभं च यत्कर्म विना भोगान्न तत्क्षयः॥

—ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्मखंड, ८४

इसी लिये महाभारतकार ने कहा है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म्म कर्तारमनुगच्छति ॥

—शांतिपर्व १८१ । १६

'जिस प्रकार हजारों गौओं के बीच बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ़ लेता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ता का अनुसरण करता है ।' अतएव कर्म के पंजे से बचने का कोई उपाय नहीं है । कर्मफल को भोगना ही पड़ेगा । जैसा कर्म होगा तदनुरूप फल को भोगना पड़ेगा । As you sow, so you reap; जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष उगेगा । बबूर के बीज बोकर आम की आशा करना निरी दुराशा है । पुण्य कर्म का फल सुख है; पाप कर्म का फल दुःख है; इस नीति में जरा भी उलट फेर नहीं हो सकता । इसी लिये पतंजलि ने कहा है—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।

—योगदर्शन, २ । १४

अर्थात् पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख है* । यही कर्मफल का साधारण नियम है ।

---

* जर्मन दार्शनिक कैंट ने इस नियम की गणना स्वयंसिद्ध में की है—Of Practical Reason ।

तृतीय अध्याय

कर्म-विभाग

हमने देख लिया है कि मनुष्य की आत्मा से जो तीन शक्तियाँ प्रकट होती हैं उनके नाम ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति हैं। शक्ति का प्रकाश क्रिया में होता है। जिस क्रिया में ज्ञानशक्ति का प्रकाश होता है उसका नाम चिंतन (Thought) है; जिस क्रिया में इच्छाशक्ति का प्रकाश होता है उसका नाम वासना (Desire) है; और जिस क्रिया में क्रियाशक्ति का प्रकाश होता है उसका नाम चेष्टना (Action) है। क्रिया का ही दूसरा नाम कर्म है। अतएव मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के हुए—चिंतन, वासना और चेष्टना।

मनुष्य इस जन्म में अनेक कर्म करता है। वह अनेक चिंतन, वासना और चेष्टनाओं का कर्ता है। यह सब उसका 'क्रियमाण' कर्म है, किंतु एक यह जन्म ही तो मनुष्य का पहला जन्म नहीं है; अब से पहले मनुष्य और भी कई बार जन्म ले चुका है। इस जन्म से पहले उसके न जाने कितने जन्म बीत चुके हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

—गीता, ४। ५

'हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं।'

भगवान् ने अर्जुन के संबंध में जो बात कही थी वही प्रत्येक जीव के संबंध में कहनी चाहिए। हम लोगों में से हर एक के बहुत से जन्म हो चुके हैं। हमने अपने उन पिछले जन्मों में न जाने कितने कर्म किए हैं। बहुत कुछ चिंतन, वासना और चेष्टना के हम कर्ता हो चुके हैं। वही हम अब इस जन्म में कर्म कर रहे हैं। अतएव जो जीव क्रियमाण कर्म का कर्ता है वही जीव उन प्राक्तन कर्मों का भी कर्ता है। प्राक्तन का अर्थ है पूर्वतन अर्थात् पूर्व जन्म में किए हुए कर्म।

हमारे पूर्व जन्म में किए हुए अथवा इस जन्म में क्रियमाण कर्म या तो शुभ होंगे या अशुभ; या होंगे पुण्य या होंगे पाप; या तो होंगे सुकृत या होंगे दुष्कृत। हमको ज्ञात हो गया है कि कर्म करने से ही उसका फल भोगना पड़ता है; फिर वह कर्म चाहे सुकृत हो चाहे दुष्कृत।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

बिना भोगे कर्म क्षीण नहीं होता।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

एक ही जन्म क्या कोटिकल्प क्यों न बीत जायँ, जब तक किए हुए कर्म का भोग नहीं हुआ है तब तक उस कर्म का नाश होने का नहीं। जिस जन्म में कर्म किया है उसी जन्म में यदि उस कर्म का भोग पूरा हो जाय तो कहना ही क्या है; किंतु ऐसा बहुत करके होता नहीं है। उस जन्म में तो

बहुत ही थोड़ा कर्म, भोग के द्वारा, क्षीण होता है; अधिकांश तो अगले जन्म में भोगने के लिये 'संचित' बना रहता है। इसी अभुक्त प्राक्तन कर्म को संचित कर्म कहते हैं। अतएव कर्म को साधारणतया दो भागों में बाँटा जा सकता है—क्रियमाण और संचित।

क्रियमाणञ्च यत्कर्म वर्त्तमानं तदुच्यते।

* * * *

अनेकजन्मसञ्जातं प्राक्तनं सञ्चितं स्मृतम्।

देवीभागवत ६। १०। ९—१२

'क्रियमाण कर्म को वर्त्तमान कर्म कहा जाता है। अनेक जन्मों के किए हुए पूर्वतन कर्म को संचित कहते हैं।'

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का ढेरों संचित कर्म पड़ा है। उसी कर्म-समुच्चय को भोग के द्वारा क्षीण करने के लिये ही जीव जन्म ग्रहण किया करता है। जिसके सारे कर्म क्षीण हो चुके हैं उसको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म लेने पर मनुष्य परिमित समय तक ही जीवित रहता है। मनुष्य की आयु का परिमाण साधारणतया सौ वर्ष से अधिक नहीं है। वेद का वचन है—"शतायुर्वै पुरुषः।" इन इने-गिने वर्षों में कितने व्यक्तियों के साथ उसका संपर्क स्थापित हो सकता है? पिछले जन्मों में जिन असंख्य जीवों के साथ वह कर्मपाश में बँधा था उनमें से भला कितने व्यक्ति इस जन्म में विद्यमान हैं अथवा उत्पन्न हुए हैं और कितने व्यक्तियों के

साथ उसका संबंध स्थापित हुआ है; और जिनके साथ कर्म-सूत्र बँधा है—जो व्यक्ति उपकार कराने के कारण ऋणी है, अथवा अपकार करने के कारण जो दूसरे से दबा हुआ है—उनसे संयोग न हुआ तो उस कर्म का अंत होने का नहीं। अतएव स्पष्ट है कि एक जन्म में संचित कर्म का बहुत थोड़ा अंश क्षीण हो सकता है। इसी लिये जो लोग कर्म के विधाता हैं वे देश, काल और पात्र का विचार करके ऐसा योगायोग कर देते हैं कि सारे संचित कर्म में से एक निर्दिष्ट अंश का ही इस जन्म में भोग होता है। इस निर्दिष्ट अंश का नाम 'प्रारब्ध' कर्म है। संचित कर्मराशि में से जो कर्मपुंज समंजस है, जिसका भोग हो जाना एक ही स्थूल देह में संभव है, और जो एक जीवन में भोग द्वारा क्षीण हो सकता है उसी की समष्टि 'प्रारब्ध' कर्म है। इस कर्मभोग के लिये उसे ऐसे देश का अधिवासी किया जाता है जहाँ की धर्मनीति, राजनीति और शासननीति प्रभृति उसकी प्रकृति के अनुरूप है। वह ऐसी जाति में जन्म लेता है जिस जाति का जातीय स्वभाव उसके स्वभाव के अनुकूल है। वह ऐसे वंश में उत्पन्न होता है जिसकी संतति के नियम से उसे उसकी दैहिक और मानसिक वृत्ति के अनुरूप देह मिल सके। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोगने की व्यवस्था होती है। प्रारब्ध = प्र + आरब्ध; अर्थात् वह कर्म जिसका भोग आरंभ हो चुका है।

संचितानां पुनर्मध्यात् समाहृत्य कियत् किल ।
देहारंभे च समये कालः प्रेरयतीव तत् ॥
प्रारब्धं कर्म्म विज्ञेयं—

—देवीभागवत, ६ । १० । ६, १२

'संचित कर्मों' में से जिस निर्दिष्ट अंश को भोगने के लिये नए जन्म से पहले काल प्रेरणा करता है वही प्रारब्ध कर्म है ।'

देवीभागवत में अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है—

पूर्वदेहं परित्यज्य जीवः कर्मवशानुगः ।
स्वर्गं वा नरकं वापि प्राप्नोति स्वकृतेन वै ॥

* * * *

भुनक्ति विविधान् भोगान् स्वर्गे वा नरकेऽथवा ॥
भोगांते च यदोत्पतेः समयस्तस्य जायते ।
तदैव संचितेभ्यश्च कर्मभ्यः कर्मभिः पुनः ॥
योजयत्येव तं कालः * * *

—देवीभागवत, ४ । २१ । २२—४

'देहांत होने पर जीव किए हुए अपने कर्मों के अनुसार या तो स्वर्ग को जाता है या नरक को। वहाँ—स्वर्ग या नरक में—उसे अनेक प्रकार के भोग भोगने पड़ते हैं। फिर भोग हो चुकने पर जब उसके पुनर्जन्म का समय होता है तब काल, संचित कर्मों में से, कुछ कर्मों के साथ उसे संयुक्त कर देता है।' यही प्रारब्ध कर्म है।
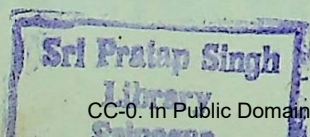
अब कर्म का रूप इस प्रकार हुआ—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म को कच्चा फल समझिए—वह अभी भोग के योग्य नहीं हुआ है; प्रारब्ध कर्म पका हुआ फल है—वह फल खाने योग्य हो गया है। इस जन्म के जो प्रारब्ध कर्म हैं उनको भोगना ही होगा—बिना भोगे उनका नाश नहीं होने का।

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

इसलिये किसी-किसी ने धनुष से छूटे हुए तीर के साथ प्रारब्ध कर्म की तुलना की है। धनुषधारी ने जो तीर छोड़ा है वह जिस तरह लक्ष्य स्थान पर पहुँचेगा ही उसी तरह जिस (प्रारब्ध) कर्म का भोग आरंभ हो गया है वह भोगना ही पड़ेगा।

जिस जन्म में कर्म किया गया है और जिस जन्म में उस कर्म का भोग हो रहा है, इन दोनों के बीच में बहुत बड़ा फासिला है। देश, काल और जाति का भेद होते हुए भी उस कर्म और उसके भोग के साथ संयोग किस प्रकार बना रहता है? इसका उत्तर पतंजलि ऋषि ने योगसूत्र में दिया है। वे कहते हैं कि साधारण जीव के कर्म तीन प्रकार के हैं—

त्रिविधमितरेषाम्—योगसूत्र, ४। ७

कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण और शुक्ल—यही त्रिविध कर्म जीव के हैं। पाप, पुण्य और मिश्र—कर्म के ये तीन विभाग हैं।

जिस जन्म में जिस कर्म का भोग होगा उसके अनुरूप वासना का प्रकाश जीव के चित्तक्षेत्र में होता है।

ततः तद्विपाकानुगुणानामेव अभिव्यक्तिर्वासनानाम्।

—योगसूत्र, ४। ८

'जिस जातीय कर्म का जो विपाक होता है उसी के अनुगुण वासना का उदय होता है। विगुण वासना का उदय नहीं होता।' इस प्रकार से भोग का सामंजस्य बना रहता है।

इसके आगे पतंजलि कहते हैं—

जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनंतर्यं स्मृतिसंस्कारयोः एकरूपत्वात्।

—योगसूत्र ४। ९

'कर्म और भोग के बीच सैकड़ों हजारों जातियों, दूर दूर के देशों और करोड़ों कल्प समय का अंतर रह सकता है। किंतु इससे उनके आनंतर्य में कुछ भी हानि नहीं होती; उनका सामंजस्य बना रहता है। क्योंकि स्मृति और संस्कार एक से ही बने रहते हैं।'*

---

* यथानुभवास्तथा संस्काराः। ते च कर्मवासनारूपाः यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः। स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशय वृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति।—४। ९. योगसूत्र पर व्यासभाष्य।

चतुर्थ अध्याय

कर्म-भोग

हमें ज्ञात हो गया है कि कर्म करने पर उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म दो प्रकार के हैं—पुण्य और पाप। पुण्य का फल सुख है और पाप का फल दुःख। इसी लिये पतंजलि ने योगसूत्र में कहा है—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।—२।१४

इस पर व्यासभाष्य यह है—

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति।

अर्थात् 'जीव के भोगादि कर्म पुण्यजनित हों तो फल सुख है और पापजनित हों तो फल दुःख है।'

महाभारत के शांतिपर्व का वचन है—

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसंप्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति॥

—शांतिपर्व, २०१।२३

'फल की इच्छा रखनेवाला जीव फलासक्त होकर जैसा-जैसा कर्म करता है, अपने कर्म की प्रकृति के अनुसार वह तदनुरूप शुभाशुभ फल भोगता है।' अर्थात् सुकृत का फल सुख मिलता है और दुष्कृत का फल दुःख मिलता है।

अतएव सुख पाने का एकमात्र उपाय धर्माचरण है, अधर्माचरण का अवश्यंभावी फल दुःख है। इसी लिये प्राचीन पुरुषों का कथन है—

सुखं हि जगतामेकं काम्यं धर्मेण लभ्यते।

'जगत् में एकमात्र कामना की वस्तु जो सुख है वह धर्म के द्वारा ही प्राप्त होता है।' महाभारतकार भी यही बात कहते हैं—

नाबीजाज्जायते किञ्चित् नाकृत्वा सुखमेधते।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहमयं नरः॥

—शांतिपर्व, २६१। १२

'बिना बीज के अंकुर नहीं उगता; सुकृत के बिना सुख नहीं होता। देहधारी जीव सुकृत के ही फल से सुख भोगता है और दुष्कृत के फल से दुःख सहता है।'

इस कर्मतत्त्व को हृदयंगम कर लेने पर मनुष्य फिर सुख पाकर आनंद के मारे नाचने नहीं लगता और दुःख आ जाने से मुर्दार नहीं हो जाता। क्योंकि उस समय वह समझ लेता है कि उसने पिछले जन्मों में अपने हाथों जो बीज बोए हैं उन्हीं का फल इस जन्म में मिल रहा है। जब भोगे बिना कर्म का नाश नहीं होता (शुभाशुभं च यत्कर्म विना भोगान्न तत्क्षयः—ब्रह्मवैवर्त पुराण) तब यह समझकर कि दुःख सहने से क़र्ज़ा चुक गया, प्रसन्न ही होना चाहिए; क्योंकि जिस पर जो क़र्ज़ है उससे साहूकार कौड़ी-कौड़ी वसूल कर लेगा।

इस सुकृत और दुष्कृत का फल कब भोगना पड़ता है? जिस जन्म में वह सारा पाप पुण्य किया जाता है उसी जन्म में भोगना पड़ता है अथवा अन्य जन्म में? इस प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि उस जन्म में नहीं, अगले जन्म में। इसी लिये जिसे क्रियमाण कर्म कहा जाता है अर्थात् जा कर्म इस जन्म में किया है उसका दूसरा नाम 'आगामी' है। आगामी का अर्थ है, उसका फल इस समय न होगा, आगे होगा। भगवान् मनु का वचन है 'फलति गौरिव'। कर्म किस प्रकार फलता है? गौः इव। गौ का अर्थ पृथिवी है। पृथ्वी में बीज बोने से वह तुरंत फलने-फूलने नहीं लगता, वही बात कर्म की समझिए। कर्म का फल साधारणतः इस जन्म में नहीं मिलता, अगले जन्म में मिलता है। हाँ, कर्म यदि उत्कट हो तो उसका फल इसी जन्म में मिल जाता है--वह कर्म चाहे पुण्य हो चाहे पाप। इसी से शास्त्रकारों ने कहा है--

अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।

'पुण्य और पाप उत्कट हों तो उनका फल इसी जन्म में भोगना पड़ता है।

यही बात पतंजलि भी कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। —योगसूत्र, २।१२

कर्माशय का अर्थ धर्माधर्म है। यह धर्माधर्म रागद्वेष मोहादिमूलक है; और इनके फल दृष्ट (इस) जन्म में अथवा अदृष्ट (अगले) जन्म में प्रकाशित होते हैं।

इस सूत्र का व्यासभाष्य इस प्रकार है—

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रभवः स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिः निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानां आराधनात् वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महाभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते।

अर्थात् 'इस जन्म में किए हुए पाप-पुण्यों का—जिनकी जड़ में काम क्रोध लोभ मोह इत्यादि हैं—फल या तो इसी जन्म में अथवा अन्य जन्म में जाना जाता है। उत्कट पुण्य तुरंत फल देता है; जैसे कि आत्यंतिक भाव से मंत्र, तपस्या और समाधि का अनुष्ठान अथवा ईश्वर, देवता, ऋषि या महात्मा की आराधना। इसी प्रकार उत्कट पाप का फल भी तुरंत मिल जाता है; जैसे पीड़ित, भीत, आर्त्त और शरणागत पर अत्याचार अथवा ऋषि-तपस्वी को सताना।'

इस तत्त्व को विशद करने के लिये व्यासभाष्य में दो दृष्टांत दिए गए हैं—नहुष और नंदीश्वर के। इंद्र का पद पाकर नहुष अभिमान के मारे इतने अंधे हो गए कि उन्होंने अगस्त्य प्रभृति ऋषियों को भी सताना अनुचित नहीं समझा। उस उत्कट पाप का फल यह हुआ कि उन्हें अजगर हो जाना पड़ा। इसी प्रकार नंदीश्वर ने देवदेव महादेव की इतनी आराधना की थी कि उन्हें मनुष्यदेह के बदले इसी जन्म में

देवत्व मिल गया था। प्राचीन शास्त्रों में ऐसे अन्यान्य दृष्टांतों का विवरण पाया जाता है। उदाहरण के लिये रामायण में दशरथ और श्रवण मुनि का दृष्टांत लीजिए। दशरथ ने मृग समझकर शब्दभेदी बाण से अंधमुनि-दंपति के एकमात्र सहारे बालक श्रवण को मार डाला; इस उत्कट पाप का फल दशरथ को इसी जन्म में भोगना पड़ा था। पुत्र रामचंद्र के वनगमन के शोक में उनकी अकालमृत्यु हो गई। रामायण में लिखा है कि यह इसलिये हुआ कि उन्होंने श्रवण को मारकर उत्कट पाप किया था। इसी प्रकार महाभारत वनपर्व के सावित्री-उपाख्यान में हमें उत्कट पुण्य का फल इसी जन्म में चटपट मिलते देख पड़ता है। सावित्री ने जब मन ही मन सत्यवान् को पति मान लिया तब वह पिता की अनुमति प्राप्त करने के लिये राजधानी में आई। वहाँ दैवयोग से नारद ऋषि उसके पिता के पास बैठे हुए थे। ऋषि ने सत्यवान् का नाम सुनकर सावित्री से विशेष रूप से अनुरोध किया कि यह विवाह मत करो। उन्होंने कहा कि सत्यवान् सब गुणों के आकर होते हुए भी अल्पायु हैं; उनके साथ विवाह होगा तो सावित्री का साल भर में विधवा हो जाना अनिवार्य है। किंतु उनकी बात मानना सावित्री ने स्वीकार नहीं किया। सावित्री ने दृढ़ता के साथ कहा कि जब मैं उक्त कुमार को मन में पति मान चुकी हूँ तब वे ही मेरे पति हैं; मैं अब और किसी को यह शरीर नहीं दे सकती। इसके बाद सावित्री के साथ सत्यवान् का

विवाह हुआ। किंतु ऋषि की दृष्टि तो अभ्रांत थी; उन्होंने दिव्य दृष्टि से सावित्री का जो वैधव्य देख लिया था वह प्रसंग वर्ष बीतने पर आ गया। अकाल में काल ने सत्यवान् को ग्रस लिया। उनके अंगुष्ठमात्र कारण शरीर को पाश में बाँधकर यमराज ले चले। किंतु सावित्री ने इस साल जो कठोर व्रतधर्म का अनुष्ठान करके अत्यंत उत्कट पुण्य संचय कर लिया था वह भला निष्फल हो सकता था? उसी पुण्य के प्रताप से उनका अदृष्टजनित वैधव्य खंडित हो गया। सत्यवान् पुनर्जीवित होकर साध्वी के साथी हो गए।

विष्णुपुराणोक्त ध्रुवचरित्र में भी हमें इसी सत्य के दर्शन होते हैं। पिता सौतेली माँ के वश में थे, इस कारण उनसे ध्रुव को आदर नहीं मिलता था। एक दिन वे पिता की गोद में जा बैठे। इससे विमाता ने उनकी बड़ी भर्त्सना की। इससे दुखी होकर बालक ध्रुव अपनी माता के घर पहुँचे। माता ने उन्हें ढाढ़स बँधाकर समझाया कि जीव इस जन्म में पिछले जन्मों के किए हुए पाप-पुण्य का ही फल भोगता है। जिसने पुण्य किया है उसे बैठने को सिंहासन मिलता है। अभागा पुण्यहीन बेटा यह दुराकांक्षा किसलिये करता है? इस पर ध्रुव ने गर्व के साथ कहा था कि यदि पुण्य के फल से ही उत्तम स्थान मिलता है तो मैं पुण्य का इतना बड़ा पहाड़ प्राप्त करूँगा जिसके फल से उस सर्वोत्तम स्थान पर अधिकार कर लूँगा जिसे कि कभी पिताजी ने भी प्राप्त नहीं किया है।

इच्छामि तदहं स्थानं यत्र प्राप पिता मम।

ध्रुव ने जो कहा था वही किया। उन्होंने पद्मपलाश-लोचन हरि की अनन्य भाव से आराधना करके वह सर्वोत्तम ध्रुवलोक प्राप्त कर लिया जिसको पाने की इच्छा देवताओं को भी रहती है। इस प्रकार उत्कट पुण्य का फल इसी जन्म में मिल गया। इस श्रेणी के दृष्टांत अवश्य ही साधारण नियम से दूर हैं और ये अत्यंत उत्कट पाप-पुण्य के निदर्शक हैं। साधारण नियम तो यह है कि एक जन्म के पाप-पुण्य का फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है।

पंचम अध्याय

कर्म और धर्मनीति

हम देख चुके हैं कि कर्मवाद मूलतः धर्मनीति पर प्रतिष्ठित है। सुकृत के फल से सुख और दुष्कृत के फल से दुःख —पुण्यात्मा के लिये सुख और पापी के लिये दुःख—मिलने का कर्म-विधान है। यही होना भी चाहिए। क्योंकि यह जगत् विधाता की सृष्टि है; दैत्य की कारीगरी नहीं। भगवान् के राज्य में न्याय का मार्ग, धर्म का मार्ग, सुखद होना ही चाहिए।

इससे सहज ही सिद्धांत किया जा सकता है कि हमें जो सुख मिलता है वह पुण्य का फल है और हम जो दुःख सहते हैं वह पाप का फल है। यह धारणा करना असंगत नहीं है कि कोई जो दुःख पाता है उसका वह दुःख उसके आत्मदुष्कृत रूप वृक्ष का फल है। यदि यह ठीक है, दुःख यदि कर्मजन्य है, तो फिर दुखी को दुःख से बचाना क्या ठीक काम है? इस युक्ति के आधार पर कोई-कोई दुखी व्यक्ति का दुःख दूर करने के उपाय से दूर रहते हैं। उन्हें यह डर रहता है कि उनकी दी हुई सहायता कर्मफल में अड़ंगा लगावेगी। तनिक ध्यान देने से यह धारणा भ्रममूलक जान पड़ेगी। इस धारणा

की जड़ में बहुत बड़ी शेखी छिपी हुई है। बापुरे मनुष्य में इतनी सामर्थ्य ही कहाँ कि विधाता के कर्मविधान में गड़बड़ कर सके! वह नियम तो अकाट्य अलंघ्य है। मनुष्य हजार चेष्टा करके भी उसमें रत्ती भर उलट-फेर नहीं कर सकता। जिस दुःखी को दुःख से बचाने के लिये हम अग्रसर हुए हैं उसके दुःख को हलका करना या हटाना विधाता को स्वीकार न होगा तो हमारी वह चेष्टा कारगर होने की नहीं। अतएव इससे कर्मफल में कुछ गड़बड़ होने की आशंका है ही नहीं। किंतु यदि उसके दुष्कृत की जड़ कट गई होगी, यदि कर्म के विधान की दृष्टि से उसकी दुष्कृत-रात्रि का प्रभात होने को होगा तो उसको दुःख से बचाने जाकर हमारा कर्म में गड़बड़ करना तो दूर रहा; हम सहायक ही होंगे। जिसको सहायता मिलनी चाहिए उसे कर्मविधाता सहायता दिए बिना नहीं रह सकते। हम यदि उस सहायता का निमित्त बनना अस्वीकार करें तो वे किसी और के द्वारा सहायता दिला देंगे। लाभ हमें यह होगा कि हम परोपकाररूप पुण्य से विरत और वंचित रहेंगे। दुखी को देखकर यदि हम उसे दुःख से बचाने का उपाय न करेंगे तो हमें पाप लगेगा। साहाय्य माँगनेवाले को, सामर्थ्य होते हुए भी, सहायता न दी जाय तो हम अपने भविष्य सहायता के मार्ग में काँटे बखेरेंगे। हमें यह न समझना चाहिए कि हमारे निठल्ले बैठे रहने या उदासीन रहने से विधाता का कर्मविधान अचल रहेगा। जिसे सहायता

मिलनी है उसे जरूर मिलेगी; केवल हम साहाय्यदाता के उच्च अधिकार से वंचित होंगे। हाँ, यदि हम सर्वज्ञ होते, यदि हमारी अंतर्दृष्टि के सामने उस दुखी के अतीत जीवन का चित्रपट खुला रहता और यदि हम निश्चित रूप से जान सकते कि कर्मविधान की दृष्टि से उस दुखी की कालरात्रि बीतने में अभी तक देरी है तो अवश्य उसे दुःख से बचाने की व्यर्थ चेष्टा से अलग रहना हमारे लिये ठीक होता। किंतु हम तो अज्ञ हैं, सर्वज्ञ नहीं हैं। जो लोग सर्वज्ञ हैं, जिन्हें ऐसी अंतर्दृष्टि प्राप्त है वे कई बार व्यर्थ साहाय्य की विफल चेष्टा से बचे रहते हैं; किंतु हमारे लिये उनके उस दृष्टांत की नकल करना निरी विडंबना है।

एक बात और है। पाप का फल यदि दुःख ही सुनिश्चित है तो फिर पापी फलता-फूलता क्यों है? चरित्रहीन कुक्रियासक्त व्यक्ति भी ऐश्वर्यशाली क्यों हो जाता है? यह दृश्य कुछ विरल नहीं है कि चरित्रहीन कुक्रियाप्रवृत्त व्यक्ति धन-दौलतवाला होकर गुलछर्रे उड़ा रहा है और सुशील सदाचारी व्यक्ति पास में कौड़ी न होने से अपार क्लेश भोग रहा है। ऐसा क्यों होता है? कर्मवाद यदि धर्मनीति की नींव पर प्रतिष्ठित हो तो ऐसा दृश्य क्वचित् होना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं होता। इसका क्या समाधान है?

पाश्चात्य पंडित इसका समाधान इस तरह करना चाहते हैं—इस लोक में पाप-पुण्य और सुख-दुःख का सामंजस्य

नहीं है। इसी लिये परलोक की आवश्यकता है। वहाँ पुण्य और सुख तथा पाप और दुःख का ठीक ठीक सामंजस्य है। तराजू में तोलकर पाप के बराबर दुःख और पुण्य के बराबर सुख जीव को ठीक ठीक भोगना पड़ता है। इसमें एक तिल या रत्ती बराबर भी अंतर नहीं पड़ता। यूरोप में कैंट और न्यूमैन ने ऐसा ही मत प्रकट किया है। कैंट का कहना है कि कई बार यह देखा जाता है कि जगत् में पुण्य के साथ दुःख लिपटा हुआ है और पुण्य न करने से सुख-प्राप्ति में कुछ भी असुविधा नहीं होती; और मजा यह कि जगत् के नैतिक विधान के अनुसार ऐसा होना अनुचित है। इस विरोध के सामंजस्य के लिये हमें मान लेना पड़ता है कि देहांत होने पर भी आत्मा जीवित रहता है और परलोक में पाप-पुण्य तथा सुख-दुःख की सामंजस्य-रक्षा होती है। हम देखते हैं कि कैंट ने इस विश्वास को 'व्यावहारिक बुद्धि का स्वयंसिद्ध' (Postulate of Practical Reason) नाम दिया है।

पाश्चात्य दार्शनिक का यह उत्तर क्या ठीक है? कर्म-वाद के साथ धर्मनीति का क्या दूसरे ढँग से सामंजस्य नहीं हो सकता? हमने कर्मफल-भोग की छानबीन करते समय जो बातें कही हैं उन्हें स्मरण करने से इस प्रश्न का सन्तोष-जनक उत्तर मिल जायगा। जन्मांतर में जिसने दूसरे को सुख दिया है, कर्म के विधान से इस जन्म में सुख उसके लिये न्यायतः प्राप्य है—इसके साथ उसके आचरण या

आशय (Motive) का कोई वास्ता नहीं। आशय के फल से—यदि उसने दुराशय होकर किसी को सुख दिया हो तो इसके लिये उसकी प्रकृति मलिन हो जायगी सही किंतु सुख देने के बदले में सुख पाने से वह भला क्यों वंचित रहेगा? इसी प्रकार यदि कोई शुभ इच्छा और आशय के द्वारा परिचालित होकर भी किसी को दुख दिया करता हो तो इसके फलस्वरूप उसकी प्रकृति तो मलिन न होगी, किंतु उसे दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा। यों समझिए कि किसी देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा है। हजारों आदमी अन्न बिना मुमूर्षु होकर हाहाकार कर रहे हैं। ऐसे समय किसी ने दया के कारण नहीं, धर्मबुद्धि की प्रेरणा से नहीं किंतु उपाधि-व्याधि की ताड़ना से उन भूखे-प्यासे आतुर अनाथों को बहुत अधिक परिमाण में खाने को अन्न और पीने को जल बँटवा दिया। यह काम उसने इसलिये किया जिसमें इसकी ख़बर पाकर राजा उसे उपाधि देगा और इससे समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। इस दुष्ट आशय के वश होकर उसने यह पुण्य किया। इसका फल कैसा होगा? इस बुरी इच्छा से परिचालित आचरण के कारण उसका स्वभाव अवश्य और भी बुरा हो जायगा, किंतु किसी भी उद्देश्य से क्यों न हो, जब कि उसने बहुत से लोगों को पार्थिव सुख दिया है तब कर्म-विधान की रीति से वह भी अन्य जन्म में पार्थिव सुख की सामग्री (धन, दौलत, ऐश्वर्य, समृद्धि) पाने का अधिकारी होगा। उसने जितने लोगों

को जितना पार्थिव सुख दिया है उसी के हिसाब से उसे पार्थिव समृद्धि मिलेगी। किसी दुष्ट ने खेती से मुनाफा पाने के लिये धान की खेती की। तो क्या उसके दुष्ट होने के कारण खेत में धान नहीं जमेंगे? यही हाल कर्म का भी है। चाहे जिस भाव से प्रेरित होकर हो, चाहे जिस आशय से परिचालित होकर हो, दूसरे को सुख-दान रूप बीज जो उसने जन्मांतर में बोया है उसके लिये इस जन्म में उसे सुख अवश्य मिलेगा। क्योंकि जिस भूमिका (plane) में शक्ति की क्रिया होती है उसी भूमिका में उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। दूसरे को पार्थिव सुख द्वारा सुखी करने से अपने आपको भी पार्थिव सुख मिलेगा। उद्देश्य और आशय पार्थिव भूमिका की वस्तु नहीं है।

दूसरे पक्ष में यों समझिए कि एक वैज्ञानिक व्यक्ति ने देश में महामारी का भय प्रबल देखकर बहुत खोज और सोच-विचार करके एक दवा का आविष्कार किया और अच्छी नीयत से उसने उस दवा का सेवन बहुत लोगों को कराया। किंतु उसका उद्देश्य शुभ होने पर भी फल उलटा हुआ। उस दवा के क्रम में भूल हो जाने से बहुतेरे भोले-भाले लोगों को असह्य क्लेश सहकर अकाल में मर जाना पड़ा। उस वैज्ञानिक ने जो दूसरों को दुःख दिया उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा, यद्यपि उसकी सदिच्छा में रत्ती भर भी कसर न थी। एक ओर शुभ आशय और परोपकार करने के

सदुद्देश्य के फल से उसका स्वभाव उन्नत होगा, किंतु साथ ही साथ दूसरे को पार्थिव दुःख देने के कारण उसे अगले जन्म में दुःख भोगना पड़ेगा।

एक ही काम को भिन्न-भिन्न आदमी विभिन्न आशय से किया करते हैं। दुर्भिक्षपीड़ित का दुःख दुराकांक्षा से ताड़ित होकर भी दूर किया जा सकता है और निरी करुणा के वशवर्ती होकर भी किया जा सकता है। इन दोनों आदमियों ने पार्थिव दृष्टि से एक ही काम किया। दोनों ने बहुत से दुखियों को दुःख से बचाकर पार्थिव सुख दिया। इसका फल यह हुआ कि अगले जन्म में दोनों को ही पार्थिव सुख-संपदा मिली। किंतु एक का शुभाशय था और दूसरे का दुराशय—इसका फल भी सूक्ष्म भूमिका में फलेगा। अगले जन्म में एक तो होगा सुचरित्र और दूसरा होगा दुश्चरित्र। दोनों को ही धन-दौलत की कमी न होगी सही, किंतु जो दुराशय है वह पार्थिव समृद्धि के बीच रहकर भी संतोष और शान्ति न पा सकेगा। और जिसका आशय शुभ है वह समृद्धि से भी बढ़कर सुख—शांति और संतोष—का अधिकारी होगा।

इसी तरह दूसरे को पार्थिव दुःख देने के स्थान में भी शुभाशय और दुराशय का तारतम्य देख पड़ता है। जिस वैज्ञानिक ने शुभाशय से प्रणोदित होकर केवल आकस्मिक भ्रम के कारण दूसरे को पार्थिव दुःख दिया है और जिस वैज्ञानिक ने दुराशय की प्रेरणा से दूसरे को निठुरता के साथ पार्थिव यातना दी

है, उन दोनों की दशा अगले जन्म में अवश्य ही एक सी न होगी। जो शुभाशय है वह अगले जन्म में दुःख तो भोगेगा, किंतु शुभाशयजनित चरित्र की उन्नति के फलस्वरूप उस दुःख में भी वह सहिष्णुता और संतोष का अर्जन करके दुःख के असह्य बोझ से घबरा न जायगा। और दुराशय व्यक्ति को उसका पार्थिव दुःख तो मिलेगा ही, साथ ही साथ दुर्वृत्त और दुश्चरित्र होने के फल से वह दुःख सहने में असमर्थ होकर दुःख के बोझ को बहुत भारी कर लेगा। फल यह होगा कि उसकी प्रकृति मैली से भी मैली होती रहेगी। इस प्रकार कर्म का साम्य रक्षित रहता है और उसमें सामंजस्य भी बना रहता है।

षष्ठ अध्याय

कर्म का विपाक

हम देख चुके हैं कि जीवात्मा की तीन शक्तियाँ हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इच्छाशक्ति का प्रकाश कामना (Desire) से होता है; ज्ञानशक्ति का प्रकाश चिंतन (Thought) से होता है और क्रियाशक्ति का प्रकाश चेष्टना (Action) से होता है। कामना का नाम काम, चिंतन का क्रतु और चेष्टना का नाम कृति है। अतएव कर्म के तीन भेद Three-fold हुए। इस संबंध में उपनिषद् का कथन है—

कामसय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरुते तत् अभिसम्पद्यते। —बृह, ४।४।५

'जीव काममय है। उसकी जैसी कामना होती है तदनुयायी वह चिंतन करता है। वह जैसा सोचता-विचारता है तदनुरूप काम करता है। जैसे काम करता है वैसा ही हो जाता है। इस प्रकार एक जन्म की कामना, चिंतन और कार्य द्वारा अगला जन्म नियमित होता है।' इस नियम का रूप और इसकी प्रणाली कैसी है ?

पहले कामना होती है या वासना? एक जन्म की वासना अगले जन्म को किस तरह नियमित करती है?

असल बात यह है कि कामना जीव को काम्य वस्तु के साथ संयुक्त कर देती है* ।

स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्—बृह, ४ । ३ । १२

जहाँ पर काम्य वस्तु है वहीं जीव जाता है । मुंडक उपनिषद का इस संबंध में कथन है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।

—३ । २ । २

'जीव जिन काम्य वस्तुओं की कामना करता है वहीं पर, कामना के फल से, वह जन्म लेता है ।'

तदेव सक्तः सह कर्मणेति ।

लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य

—बृह, ४ । ४ । ६

'जिसका मन जिसमें आसक्त है उसी स्थान में उसे कर्म ले जाता है ।'

स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत—किसी ने सकाम भाव से स्वर्ग की इच्छा करके यज्ञ किया । उसका फल यह होगा कि

---

*Desires carry the man to the place where the objects of desire exist and thus determine the channels of his future activities.

—*Sanatana Dharma Text Book*, p.112.

देहांत होने पर वह अवश्य ही स्वर्गलोक में जायगा; क्योंकि उसकी काम्य वस्तु स्वर्गसुख है।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।
—गीता ९। २०

इस प्रकार उस स्वर्गधाम में उसने बहुत सा देवभोग (स्वर्गसुख) का मजा लूटा। इसके बाद ?

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।—
—गीता ९। २१

उस विशाल स्वर्गलोक का सुख भोगकर वह पुण्य के क्षीण होते ही फिर मृत्युलोक में लौट आता है। किसलिये ? बृहदारण्यक ने इसका उत्तर दिया है—

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥
इति नु कामयमानः।—४। ४। ६

'जब उसके किए हुए कर्म का फल स्वर्गलोक में पूरा हो जाता है तब वह फिर इस लोक में, इसी कर्मभूमि में, वापस आ जाता है। यही कामना की करतूत है।'

बौद्ध लोग इसी बात को दूसरी तरह से कहते हैं। वे कहते हैं कि जीव का स्वभोग पूरा होते ही उसके चित्त में तन्हा का उदय होता है। तृष्णा का अपभ्रंश पाली में तन्हा

है। तृष्णा = कामना। स्वर्ग के सूक्ष्मतर सुकुमार भोग से अब उसको तृप्ति नहीं होती, इस पृथिवी के हृद्यतर स्थूलतर भोग्य भोग की तृष्णा उसमें जागृत हो जाती है। उसके फल से वह—स ईयते अमृतो यत्र कामम्—उसी स्थान में कामना के द्वारा पहुँचा दिया जाता है जहाँ ऐसे भोग का संस्पर्श हो सकता है। जब तक चित्त में कामना रहेगी तब तक यह काम उसे काम्य वस्तु के साथ अवश्य ही संयुक्त करेगा। इसी लिये शास्त्रकारों ने उपदेश दिया है—कामना को घटाओ, तृष्णा को हटाओ; क्योंकि—

यत्तु कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'इस लोक में जो सुखभोग और स्वर्ग में जो उच्चतर सुख है, वे दोनों सुख तृष्णाक्षय-सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।'

अवश्य ही यह वासना का त्याग धीरे-धीरे ही किया जायगा। स्थूल भोग के स्थान पर सूक्ष्मतर सुकुमारतर भोग को बैठाना होगा, धीरे-धीरे विषय की ओर से चित्त को लौटाना होगा। क्रमशः धारणा करनी होगी—

ये तु संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते—गीता

'जो सुख विषयेंद्रियों के संस्पर्श से होते हैं वे सभी दुःख-दायक हैं।' 'न तेषु रमते बुधः'—उस सुख से बुद्धिमान को संतोष नहीं हो सकता। जन्म-जन्मांतर की अभिज्ञता के फल

से यह धारणा क्रमशः चित्त में एकांत भाव से जम जायगी। तब फिर एक दिन ऐसा आवेगा जब न केवल कामना का ही भोग बल्कि वासना का 'रस' तक उसके चित्त से तिरोहित हो जायगा।

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥—गीता

तब उपनिषद की भाषा में—

> यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
> तदा मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
> —बृह, ४।४।७

हृदय में स्थित सारी कामनाओं की जड़ उखड़ जाने पर मर्त्य मनुष्य को अमरत्व प्राप्त हो जायगा—ब्रह्मबिंदु जीव ब्रह्म-सिंधु में निमज्जित हो जायगा।

द्वितीयतः, चिंतन (भावना या क्रतु) है। अगले जन्म को चिंतन किस प्रकार नियमित करता है? इस संबंध में छांदोग्य उपनिषद का वचन है—

> अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति।—३।१४।१

'जीव क्रतुमय है, इस लोक में वह जैसा सोचता-विचारता है, वैसा ही देहांत होने पर (इतःप्रेत्य) हो जाता है।'*

---

* धम्मपद में लिखा है—

All that we are is the result of what we have thought, it is founded on our thoughts, it is made up of our thoughts.

भगवान् ने गीता में भी कहा है—यो यच्छ्रद्धः स एव सः । सौ बात की बात यह कि हमारा जो स्वभाव या आचरण है वह पिछले जन्म में किए हुए चिंतन का फल है अर्थात् हमारे अगले जन्म की प्रकृति पिछले जन्म के चिंतन द्वारा नियमित होती है (Thoughts build character)। यह बात हमारे चरित्रगठन के लिये इतनी आवश्यक है कि इस संबंध में तनिक विस्तार के साथ आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

उपनिषद में जीव को हंस कहा गया है।

तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।—श्वेताश्वतर

कबीर ने इसी बात की प्रतिध्वनि करके जीव को संबोधन करके कहा है—

हंसा ! सुनो पुरानी बात।
कौन मुलुक से आयेसि हंसा,
उतरेंगे कौन घाट।

हंस के साथ जीव की तुलना करने के लिये यथेष्ट सार्थकता है। व्योमविहारी हंस जिस प्रकार पृथिवी पर उतरकर अपने लिये आहार संग्रह करता है और आहार संग्रह कर चुकने पर अपने निज धाम को विमानमार्ग से उड़ जाता है उसी तरह

इसी बात की प्रतिध्वनि करके श्रीमती एनी बेसेंट अपने Ancient Wisdom ग्रंथ में लिखती हैं—

"The mental faculties of each successive life are made by the thinkings of the previous lives."

जीव भी पृथिवी पर जन्म लेकर, चित्त का खाद्य 'चिंतन' लेकर, व्योमविहारी हंस की तरह अपने निज धाम स्वर्गलोक को जाता है और वहाँ पर उस लाए हुए चिंतन को परिपक्व करके अपने में मिला लेता है। इस प्रकार जीव परिपुष्ट होता है।*

हम एक घंटे में जो कुछ खाते पीते हैं उसे हजम होने में ७-८ घंटे लग जाते हैं। दैहिक परिपाक का जो नियम है वही आत्मिक परिपाक का है। ६०-७० वर्ष में हम भूलोक में जो कुछ चिंतन-खाद्य संग्रह करते हैं उसे देवलोक में पचा-कर आत्मसात् करने में कम से कम ५००-६०० वर्ष लग जाते हैं। इसी लिये जीव के पृथ्वी पर रहने की तुलना में उसको स्वर्ग में इतने अधिक समय तक रहना पड़ता है।

इस परिपाक की रीति क्या है? दो एक दृष्टांत देने से विषय का खुलासा हो सकता है। यों समझिए कि किसी वैज्ञा-निक या वेदांती ने सूक्ष्म तत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। न तो वह मेधावी है और न उसकी बुद्धि तीक्ष्ण है; उसका मस्तिष्क साधारण श्रेणी का है। जमकर गंभीरतापूर्वक चिंतन करना उसके वश की बात नहीं है और ज्ञान की प्यास, असल वस्तु को जानने की इच्छा, उसमें खासी मात्रा में है।

---

* The devachanic life is one of assimilation, the experiences collected on earth have to be worked into the texture of the Soul, and it is by these that the Ego grows; its development depends on the number and variety of the Mental Images it has formed during its earthly life.

—*Karma, page 36.*

इस अवस्था में वह मर गया। स्थूल देह को छोड़कर, कुछ दिन कामलोक में ठहरकर, वह स्वर्गलोक में पहुँचा। यहाँ पर उसका दुर्बल मस्तिष्क कुछ रुकावट नहीं डाल सकता; अब वह उन्हीं वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों का संस्कार लेकर बार बार अनुध्यान करने लगा। उन अर्धस्फुट विचारों का चित्र बारबार उसके चित्त में प्रकट होने लगा। उस अनुध्यान का फल क्या हुआ ? पूर्वजन्म में किए हुए उन विचारों का संस्कार क्रमशः चिंतनशक्ति और सामर्थ्य में आकारित होकर उसकी चित्त-संपदा में परिणत हो गया*।

स्वर्गभोग के पश्चात् जब उसका जन्म हुआ तब उसकी एकत्र चिंतनशक्ति का प्रकाश उसकी संपत्ति के रूप में हुआ, और पिछले जन्म में उसका चित्त जिन वैज्ञानिक और दार्शनिक तत्त्वों से छड़ककर हट जाता था, वे सब तत्त्व अगले जन्म में उसके लिये सुगम और अनायासलभ्य हो गए।

एक दृष्टांत और लीजिए। इस जन्म में कोई दयाप्रवण प्रकृति लेकर उत्पन्न हुआ है—लोक-हित करना उसका लक्ष्य है सही किंतु दरिद्र होने से वह इसको नहीं कर सकता। सुयोग, सहायता और संपत्ति न रहने से उसका लोक-हित करने का मनोरथ मन का मन में ही रह गया। वह अपने

---

* By this transformation they cease to be Mental Images created and worked on by the Soul, and become powers of the Soul, part of its very nature.

—*Karma, page 37.*

लोक-हितैषणा व्रत को आकार प्रदान नहीं कर सका। इस दशा में उसकी मृत्यु हो गई। उस अतृप्त लोक-हितैषणा को लेकर वह स्वर्ग में पहुँचा। वह स्वर्गलोक में उसी संकल्प की सहायता से अपने अफल हित-व्रत को काल्पनिक आकार देकर सबल और सफल करने लगा। इससे न केवल उसकी हितैषणा वृत्ति पुष्ट और समृद्ध हुई, बल्कि इन परिकल्पों या Schemes के कार्य रूप में परिणत होने की संभावना भी प्रबलतर होने लगी। और जब उसने अगले जन्म में स्थूल शरीर धारण किया तब इन व्रतों को सफल करने का सुयोग उसे मिलने लगा।

सुचिंतन और सुभावना के संबंध में जो बात कही गई है वही कुचिंतन और कुवासना के संबंध में भी समझिए। अतृप्त कामुकता अथवा लोलुपता की दशा में कोई मर गया। पर-काल में उसी कामवासना और अर्थगृध्नुता का चित्र उसके चित्त में बारबार उदित होने लगा। फल यह होगा कि उसकी कामप्रकृति और लोभप्रकृति बहुत प्रबल हो जायगी। अब वह इन्हीं को लेकर पैदा होगा। यह आनंद की बात है कि विधाता के विधान से ऐसा बहुत कम होता है। क्योंकि जिसने इस जीवन में बेधड़क काम अथवा लोभ की प्रवृत्ति को चरितार्थ कर लिया है, उसके अवश्यंभावी फल से उसे काम-लोक में बहुत व्यर्थता और विडंबना भोगनी पड़ती है। यूनानी पुराण के सिसिफस और टेंटालास की कहानी में यही

शिक्षा दी गई है। हमारे पुराणों में वर्णित नरकयंत्रणा इसी के अनुरूप बात है। इसी लिये रोमन कैथलिक क्रिस्तानों ने मरने के बाद Purgatory की कल्पना की है। आग में तपाए जाने से जिस प्रकार सोने का मैल हट जाता है और सोना असली हो जाता है उसी प्रकार नरकाग्नि से जीव शुद्ध होता है। इसके फल से हमारी इस जन्म की अभिज्ञता 'प्राज्ञता' में और पापों की आनुषंगिक यंत्रणा विवेक (Conscience) में परिणत होती है* ।

विधाता का ऐसा मंगल विधान है कि कुछ भी विफल नहीं हो पाता, यहाँ तक कि पाप और व्यर्थता भी उनके शुभ हाथ से छू जाकर धर्म का रूप ग्रहण कर लेती है।

तृतीयत:, चेष्टना अथवा कृति (Action) है। इसके द्वारा हमारा अगला जन्म किस प्रकार निरूपित होता है, इस संबंध में उपनिषद् का वचन है—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति—वृह ४।४।५

जिसका जैसा कर्म होता है उसको वैसा ही फल मिलता है। इसी की प्रतिध्वनि करके महाभारतकार कहते हैं—

---

* Thus far we see as definite principles of Karmic Law, working with Mental Images as causes, that :

Aspirations and desires become capacities : repeated thoughts become tendencies ; wills to perform become actions ; experiences become wisdom ; painful experiences become conscience.

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी
करोत्ययं कर्मफले निविष्टः ।
तथा तथायं गुणसंप्रयुक्तः
शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥—शान्तिपर्व

अर्थात् सकाम फलार्थी व्यक्ति जैसा कर्म करता है, तद-नुरूप शुभ अथवा अशुभ फल भोगने के लिये वह बाध्य है। जैसा बीज बोया जायगा उसी के अनुरूप पेड़ होगा। इसी लिये ईसाई लोग कहते हैं As you sow, so you reap. महा-भारतकार ने भी कहा है—

नाबीजात् जायते किञ्चित् ।

अर्थात् एक जन्म की चेष्टना अथवा कृति के फल से अगले जन्म की पारिपार्श्विक अवस्था नियमित होती है। (Actions make environment)। पतंजलि ने योगदर्शन में इसी तत्त्व को विशद किया है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।
—योगसूत्र, २ । १३

अर्थात् इस जन्म के किए हुए कर्म के विपाक से अगले जन्म की जाति, आयु और भोग निर्दिष्ट होता है। हम इस जन्म में जो कर्म करते हैं उसके द्वारा दूसरे का सुख या दुःख, इष्ट या अनिष्ट, हित या अहित होता है। उसका फल कैसा होगा? हमने जिसका अनिष्ट किया है वह हमारा महाजन हुआ और हमने जिसका इष्ट (प्रिय) किया है वह हमारा

ऋणी हुआ। इस प्रकार या तो वह हमारा कर्जदार हुआ या हम उसके कर्जदार हुए। इसके फल से निर्धारित होता है कि किस देश में हमारा जन्म होगा; किस कुल में, किस युग में, इसी प्रकार जन्म होने के बाद हमारी आयु कितनी होगी तथा हमारा भोग और दशा कैसी रहेगी। इसका निर्धारण कर्म के विधाता लोग करते हैं। इस निर्धारण की रीति को समझने के लिये हमें दो एक दृष्टांत देने पड़ेंगे; साथ ही साथ यह भी बतलाना पड़ेगा कि व्यक्तिगत कर्म के साथ जातिगत कर्म का संपर्क कैसा है।

इसकी आलोचना अगले अध्याय में होगी।

सप्तम अध्याय

व्यक्तिगत और जातिगत कर्म

पिछले अध्याय में कर्म के विपाक की आलोचना करते समय हम देख चुके हैं कि पिछले जन्म की चेष्टना अथवा कृति (Action) के फल से अगले जन्म की पारिपार्श्विक अवस्था (Environment)—जाति, आयु और भोग—नियमित होती है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।—योगसूत्र, २। १३

इस नियमन का भेद और प्रणाली क्या है? भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं—

गहना कर्मणो गतिः।

'कर्म की गति का निर्धारण करना बहुत ही कठिन है।' और उस कठिन कार्य में हाथ डाले बिना हम रह नहीं सकते।

एक साधु ने हमसे एक बार कहा था कि कर्म-विपाक का भेद समझाने के लिये उनके गुरु महाराज ने कई जीवों के पुराने जन्मों की यवनिका उठाकर उनकी घटनाएँ उनकी दृष्टि के सामने खड़ी कर दी थीं। बायस्कोप की सजीव चित्रावली जिस प्रकार रंगमंच पर दर्शक के सामने प्रकट होती है, यह

भी उसी प्रकार हुआ था। तब इन साधु को श्री गुरु की कृपा से कुछ-कुछ मालूम हो सका था कि किस बीज ने, पिछले जन्मों में बोए जाने पर, अगले जन्म में कौन सा वृक्ष उत्पन्न किया था—कौन सा कारण-कूट जन्मांतर में प्रवर्तित होकर अगले जन्म में किस कार्य में परिणत हुआ था। असल में दिव्य दृष्टि के बल से अनेक नर-नारियों का 'पूर्वजाति-विज्ञान' निर्दिष्ट न हो* तो कर्म की गहन गति का निर्धारण करना एक प्रकार से असंभव है। तथापि थोड़े से दृष्टांत देने से यह दुर्बोध्य विषय कुछ स्पष्ट हो सकता है।

महाभारत के उद्योगपर्व में भीष्म को मारनेवाले शिखंडी की कथा बहुत लोगों ने पढ़ी होगी। भीष्म के पिता शांतनु ने दाशराज की कन्या सत्यवती के रूप पर मोहित होकर उसके साथ विवाह का प्रस्ताव किया। तब दाशराज ने भीष्म से प्रतिज्ञा करा ली कि जेठे होने पर भी वे राजगद्दी पर न बैठेंगे और इस आशंका को निर्मूल करने के लिये वे आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे कि कहीं विवाह करने पर उनसे उपजा हुआ पुत्र

---

* 'जन्मांतर' में जन्मांतर की आलोचना करते समय हम यह प्रतिपन्न करने की चेष्टा करेंगे कि 'पूर्वजाति-विज्ञान' अयौक्तिक या असंभव नहीं है। कौतूहली पाठक इस संबंध में तत्त्वविद्यामंडली से प्रकाशित Lives of Alcyone—Two volumes पढ़ सकते हैं। उक्त ग्रंथ में व्यक्तिविशेष के ४८ पिछले जन्मों की कथा का विस्तृत वर्णन है।

राजगद्दी का दावा न कर बैठे। पिता के सुख के लिये जब भीष्म ने यह कठोर प्रतिज्ञा की तब दाशराज ने शांतनु के साथ सत्यवती का विवाह कर दिया। इस संबंध से, शांतनु के औरस और सत्यवती के गर्भ से, चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। शांतनु की मृत्यु होने पर हस्तिनापुर के राजा पहले चित्रांगद हुए और जब उनकी अकालमृत्यु हो गई तब विचित्रवीर्य सिंहासन पर बैठे। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भीष्मदेव राज्य का हक्क छोड़कर, भाई के रक्षक बनकर, विचित्रवीर्य की अभिभावकता करने लगे। धीरे-धीरे विचित्रवीर्य सयाने होकर विवाह योग्य हुए। तब भीष्म, भाई के लिये, योग्य कन्या ढूँढ़ने लगे। उन्हें खबर मिली कि काशिराज की अपूर्व रूपवती तीन कन्याओं—अंबा, अंबिका और अंबालिका—का स्वयंवर होनेवाला है। वे स्वयंवर-सभा में जाकर, उस समय की रीति के अनुसार, अपने भुजबल से उन तीनों कन्याओं को हर लाए। इस सभा में शाल्व प्रभृति अनेक बलवान् राजा लोग उपस्थित थे। भीष्म के इस व्यवहार से क्रुद्ध होकर उन लोगों ने भीष्म से लोहा लिया; किंतु भीष्म की वीर्यवह्नि के उत्ताप को कोई न सह सका। राजमंडली को परास्त करके भीष्म उक्त तीनों कुमारियों के साथ हस्तिनापुर में पहुँचे। उन्होंने भाई के लिये माँ सत्यवती को ये तीनों कन्या-रत्न सौंप दिए। विचित्रवीर्य के साथ कन्याओं का विवाह निश्चित हुआ। तब बड़ी बेटी अंबा ने लज्जाविनम्र मुख करके

भीष्म से कहा कि मैंने पहले से ही मन में शाल्वराज को पति मान लिया है। भला मैं अब किस प्रकार विचित्रवीर्य को स्वीकार कर सकती हूँ ?

यह सुनकर भीष्म ने अंबा को आदर के साथ शाल्व-राज के यहाँ भेज दिया। अंबा ने विनीत भाव से शाल्व को सब कथा कह सुनाई। शाल्व ने कहा कि जब तुम्हें भीष्म पराक्रमपूर्वक जीत ले गए हैं तब हम तुम्हें किसी तरह अंगी-कार नहीं कर सकते। अंबा ने बारबार कहा कि मैं अन्यपूर्वा नहीं हूँ अर्थात् मैं निर्दोष कुमारी हूँ, आप मुझे ग्रहण कर लें; किंतु साँप जिस तरह केंचुल छोड़ देता है उसी तरह शाल्व ने अंबा को छोड़ दिया।

> तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम् ।
> अत्यजद् भरतश्रेष्ठ ! जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥—उद्योग० २०

तब अंबा अत्यंत उदास होकर कुररी की तरह रोती-रोती शाल्व की राजधानी से रवाना हुई। उसने निश्चय किया कि मेरी सारी विडंबना का कारण भीष्म ही है। अतएव चाहे युद्ध द्वारा और चाहे तप के प्रभाव से—जैसे भी हो—भीष्म से इसका बदला लेना ही चाहिए।

> सा भीष्मे प्रतिकर्त्तव्या नाहं पश्यामि सांप्रतम् ।
> तपसा वा युधा वापि दुःखहेतुः स मे मतः ॥

बदला लेने का उपाय सोचती हुई अंबा तपस्वियों के आश्रम में पहुँची। वहाँ दैवयोग से उसकी भेंट उसके नानाजी

के साथ हो गई। उन्होंने अंबा को सलाह दी कि "परशुराम को छोड़ संसार में ऐसा कोई वीर नहीं जो भीष्म को परास्त कर सके। अतएव तुम परशुराम की शरण में जाओ।" अंबा ने यही किया। उसकी कहानी सुनकर परशुराम उस पर दयार्द्र हुए और उसे दिलासा देने लगे। अंबा ने कहा—मैं और कुछ नहीं चाहती, आप उस नीचाशय भीष्म के प्राण ले लीजिए।

भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृतं दुःखमीदृशम्।

दूसरा उपाय न देखकर परशुराम, अंबा को साथ लेकर, भीष्म के पास गए। उन्होंने भीष्म को आज्ञा दी कि "जब इसे शाल्वराज नहीं रखना चाहता तब तुम इसे ग्रहण कर लो।" इसके लिये भीष्म राजी न हुए। इस पर भीष्म और परशुराम के बीच भयंकर युद्ध हुआ। कई दिन तक युद्ध होता रहा, किंतु कोई किसी को परास्त नहीं कर सका। तब परशुराम ने अंबा से कहा—"हे भामिनी, मैंने अपनी सामर्थ्य भर पराक्रम किया है किंतु मैं भीष्म को परास्त नहीं कर सका। भला मैं और क्या कर सकता हूँ?" तब रोष से लाल-लाल आँखें करके अंबा ने परशुराम से कहा—देखना चाहिए कि जो काम आप नहीं कर सके वह मैं कर सकती हूँ या नहीं; मैं स्वयं युद्ध के मैदान में भीष्म को मारूँगी।

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन!
समये पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह॥

अंबा क्रोध से अधीर होकर, भीष्म को मारने के उद्देश्य को सफल करने की इच्छा से, तपस्या करने चली गई। यमुना-किनारे घने वन में जाकर अंबा बड़ी कठोर तपस्या करने लगी। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये। अंबा के आत्मीयों ने और सिद्ध तपस्वियों ने उसे रोकने की बहुत चेष्टा की किंतु अंबा ने प्रतिज्ञा करके कहा कि भीष्म का विनाश किए बिना मैं तपस्या नहीं छोड़ सकती।

नाहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः।

समय पूरा होने पर उसकी साधना सिद्ध हुई। स्वयं महादेव ने प्रकट होकर उसे वरदान दिया।—

हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वञ्च लप्स्यसे।
द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः॥

अब अंबा ने बड़ी सी चिता बनाकर उसमें आग लगाई और रोषदीप्त चित्त से, भीष्म को मारने के भाव से भावित होकर, वह उस आग में कूद पड़ी।

चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम्।
प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा।
उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम्॥

इसका फल क्या हुआ? अंबा ने कुछ ही समय में द्रुपदराज के पुत्र शिखंडी के रूप में जन्म लिया। उसने कुरुक्षेत्र के युद्ध में, अर्जुन की सहायता से, भीष्म को मारकर

उस पूर्व जन्म के वैर का बदला लिया। ऐसा होना कुछ विचित्र नहीं है। क्योंकि हमने गीता में भगवान् के मुँह से सुना है—

> यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
> तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

'जिस जिस भाव से विशेष रूप से भावित होकर जीव देह का त्याग करता है उसी भाव को दूसरे जन्म में प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार कर्म का विपाक साधित होता है।

तत्त्वविद्यामंडली की स्थापना करनेवाली मैडम ब्लावैट्स्की शिवाजी के पिछले जन्म की ऐसी ही कथा कहती थीं। यदि उक्त कहानी सच हो तो हम वर्तमान युग में भीष्म और अंबा की जैसी घटना को फिर देखते हैं।

वह कहानी इस प्रकार है—डोलगुर्की नाम का रूस के राजवंश का एक समीपवर्ती आत्मीय, जहाँगीर के बादशाह होने के कई वर्ष पहले, वैराग्य के कारण राजसम्मान और धन-दौलत छोड़कर संन्यासी के वेश में एशिया के अनेक स्थानों में घूमता-घामता अंत में भारतवर्ष आया। इस यात्रा के समय वह तिब्बत में किसी सिद्ध योगी का शिष्य हो गया और उसने योगविषयक कई दुर्लभ ग्रंथों को हस्तगत कर लिया। कुछ दिन दिल्ली में रहने पर कई एक असहिष्णु कट्टर मुसलमानों से उसका झगड़ा हुआ। उन्होंने उसे तरह तरह से सताया। बादशाह के यहाँ नालिश करने पर भी किसी तरह उसका

संकट नहीं टला; मामला यहाँ तक बढ़ा कि मुसलमानों ने उसके प्राणप्रिय योगग्रंथों को आग में झोंक दिया। इससे डोलगुर्की ने विशेष रूप से क्रुद्ध होकर मुगल-साम्राज्य का नाश करने की प्रतिज्ञा की और महाभारत की अंबा की भाँति बदला लेने के भाव से भावित होकर वह उसी आग में कूद पड़ा जिसमें कि उसके प्राणप्रिय ग्रंथ जलाए गए थे। यही डोलगुर्की आगे चलकर शिवाजी के रूप में प्रकट हुआ। शिवाजी महाराज इतिहास-परिचित हैं। इतिहास पढ़नेवाले सभी जानते हैं कि कौशल, एकाग्रता, उद्यम और निष्ठा के साथ उन्होंने अपने जीवनव्रत को मुगल-साम्राज्य की जड़ खोदने में लगा दिया था और अपने प्रवर्तित किए हुए जीवन-प्रभात के मध्याह्न में उन्होंने मुगल-साम्राज्य को किस प्रकार विलोड़ित और विध्वस्त कर डाला था। हम यहाँ पर भी कर्मविपाक का एक भेद देख सकते हैं।

कई वर्ष हुए, 'थियासोफिस्ट' पत्र में एक सच्ची कहानी प्रकाशित हुई थी। उस कहानी से भी कर्म के अनुगुण विपाक का पता लगता है। यदि कोई एक जन्म में समीपी आत्मीय की (जिस पर कि सदय और सस्नेह व्यवहार करना उसका कर्तव्य है) अवज्ञा और अनादर करता है तो यह असंभव नहीं है कि अगले जन्म में वही अवज्ञात आत्मीय उसका विशेष आदरपात्र होकर जन्म लेगा और उसके दुलार को आकर्षित करके वह आँखों का तारा होगा तथा अकाल में

उसके सारे स्नेहबंधनों को तोड़-ताड़कर उसे अपार शोक-सागर में बहाकर धोखा दे जावेगा।*

'थियासोफिस्ट' पत्र में प्रकाशित उस कहानी से हम कर्म के इस विपरिणाम को भली भाँति हृदयंगम कर सकते हैं।

कहानी यह है—महाराष्ट्र प्रदेश के पार्वत्य खंड में एक डाकू रहता था। लूट-खसोट करना उसका पेशा था। दैव-योग की बात है कि एक दिन एक बनिया बहुत सी धन-दौलत साथ लिए उस पहाड़ी मार्ग से अपने देश को जा रहा था। उसने डाकू के पंजे में पड़कर उसकी ख़ुशामद इसलिये की जिसमें डाकू उसकी जान न ले ले। उसने अपनी धन-दौलत के बदले में अपनी जान बचा लेनी चाही। किंतु निर्दय डाकू ने उसकी एक भी बात न मानकर बड़ी बेरहमी से उसकी जान ले ली और सारा धन लूट लिया। अब बहुत सा धन पास हो जाने से वह चोरी डकैती करना छोड़कर मालदार आदमी की तरह रहने लगा। वह निःसंतान था। बुढ़ापे में उसके एक सुकुमार लड़का पैदा हुआ। यह बेटा बूढ़े बाप को प्राणों से भी प्यारा था। बुड्ढे ने इस लड़के के लालन-पालन और पढ़ाने-लिखाने में बहुत रुपया खर्च किया। जब

---

* If an Ego treats unkindly or neglects one to whom he owes affectionate duty and protection, or service of any kind, he will but too likely again find himself born in close relationship with the neglected one and perhaps tenderly attached to him, only for early death to snatch him away from the encircling arms.
—*Karma*.

वह विवाह के लायक हुआ तब एक सुंदरी कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। बुड्ढे की मानों सभी इच्छाएँ पूरी हो गईं। उसके हृदय में आशा का फुहारा छूटने लगा। इसके कुछ दिन बाद उस लड़के को एकाएक ऐसी बीमारी हुई कि उसे खटिया पकड़नी पड़ी। बुड्ढे ने बहुत खर्च करके नामी वैद्यों से उसकी चिकित्सा कराई और चतुर पंडितों से पूजा-पाठ कराके उसको रोग से बचाने के लिये कुछ उठा न रखा किंतु कुछ कारगर न हुआ। धीरे धीरे सभी ने उसके जीने की आशा छोड़ दी।

इसी समय एक दिन रोगी को कुछ आराम सा मालूम हुआ। खुशी के मारे उसके पिता का चेहरा खिल गया। वह बेटे के पलँग पर एक ओर जा बैठा। पुत्र ने इशारे से जतलाया कि मैं पिता से कुछ गुप्त बात कहना चाहता हूँ। तब नौकर चाकरों और वैद्यों को दूसरे कमरे में पहुँचा दिया गया। एकांत पाकर पुत्र ने पिता से कहा—"बाबूजी, आपने मुझे पहचाना भी?" पिता ने समझा कि लड़का बेहोशी में बक रहा है। उन्होंने उसे दिलासा देकर कहा—"बेटा, यह क्या कहते हो? भला मैं तुम्हें पहचानूँगा नहीं? तुम तो मेरे प्राण हो।" बेटे ने कहा—"मैं यह नहीं पूछता। आपको उस दिन की याद है जिस दिन आपने अमुक पहाड़ी रास्ते में अमुक बनिये को जान से मारकर उसका सर्वस्व लूट लिया था?" बुड्ढे के सिर पर मानो गाज गिरी।

उसने अकचकाकर सोचा कि इससे वह बात किसने कह दी। उसने प्रकाश्य रूप से पूछा—"यह सब क्या कहते हो? वैद्य को बुलाऊँ?" बेटे ने कहा—"देखिए, मुझे अब समय नहीं है। मरने से पहले मैं अंतिम बात कह देना चाहता हूँ। मैं वही बनिया हूँ जिसे आपने बुरी तरह से मार डाला था। मैं इस जन्म में आपका बेटा हुआ हूँ। मैं जब से पैदा हुआ हूँ तब से लेकर आज तक मेरे लिये जितना रुपया-पैसा खर्च किया गया है उसका हिसाब करने से आपको मालूम होगा कि उस बनिए का जितना धन लूटा था उतना ही यह हुआ। अब मैं जाता हूँ। उस रकम का सूद वसूल करने के लिये मैं अपनी कम-उम्र स्त्री को छोड़े जाता हूँ। इसका पालन जिंदगी भर करना।" बस, बेटे की आँखें मुँद गईं।

यह कहानी काल्पनिक हो चाहे सत्य, यह इस बात का बढ़िया उदाहरण है कि एक जन्म में किए हुए कर्म का विपाक अगले जन्म में कैसा होता है।

इस हत्या के मामले के फलाफल की तनिक छान-बीन करनी चाहिए। कर्मविपाक की साधारण रीति यह है कि 'हंता हतेन हन्यते।' अर्थात् जो व्यक्ति मारा गया है वह मारनेवाले को मारेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि हत व्यक्ति अपने ही हाथ से हत्यारे की जान लेगा—इसका तो यह अर्थ है कि हत्यारे की मृत्यु का आदिकारण अथवा निमित्त वह जरूर ही होगा। कभी कभी यह देखा जाता है कि चिकि-

तसक के भ्रम अथवा कंपाउंडर की भूल से कुछ की कुछ दवा मिलने पर रोगी मर जाता है। यद्यपि ऐसी हत्या अनिच्छाकृत है, किंतु है कर्मजनित। यहाँ भी वही नियम है--'हंता हतेन हन्यते।' इस संबंध में कई वर्ष पहले 'थियासोफिकल रिव्यू' पत्र में एक विचित्र कहानी प्रकाशित हुई थी। कहानी का शीर्षक था "Teller of Drolls"। कहानी यों है—

अतीत युग में समुद्र-पार के एक देश में कोई प्रबल पराक्रमी राजा था। उसने बहुत से छोटे छोटे राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन जीते गए छोटे राज्यों में से एक राज्य आचार, धर्म और सभ्यता के हिसाब से विजयी राज्य से बिलकुल विपरीत था। सम्राट् ने इस देश का शासन करने के लिये वहाँ के एक नायक को नियुक्त कर दिया। सम्राट् का आशय और उद्देश्य बुरा न था किंतु वह उद्धत और आत्माभिमानी था। उसने जिद के मारे उस विजित देश को अपनी प्रवर्तित की हुई प्रथा से परिचालित करने को लाचार किया। फल वही हुआ जो होना चाहिए। प्रजा ने ऊबकर और चिढ़कर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। सम्राट् के प्रतिनिधि उस नेता ने सम्राट् को तरह तरह से समझाने की चेष्टा की। किंतु उन्होंने अपने निर्दिष्ट मार्ग को छोड़ना किसी तरह स्वीकार न किया। तब वह नायक, कर्तव्यबुद्धि की प्रेरणा से प्रणोदित होकर, विद्रोही प्रजा में जा मिला। प्रकांड सेना लेकर सम्राट् उस विद्रोह का दमन करने चढ़

आया और थोड़े ही समय में विद्रोह को दबाकर उसने अपने भूतपूर्व प्रतिनिधि उस नेता को कैद कर लिया। बंदी जंजीरों से जकड़ा जाकर सम्राट् के सामने लाया गया। उसने सब तरह से अपने दोष को धो डालने की चेष्टा की; किंतु सम्राट् ने उसकी बातों पर ध्यान ही न दिया। उसने निर्दयतापूर्वक उस नायक को मरवा डाला। उसके बाद कई वर्ष बीत गए। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में वही सम्राट् और वही नायक इँगलैंड के कार्नवाल प्रदेश में पैदा हुए। इस बार सम्राट् हुआ एक प्रबल प्रतापी जमींदार—नाम हुआ सर रिचर्ड रासवेन (Sir Richard Rosven) और वह नायक हुआ विलिअम पेनालूना (Willlam Penaluna) नामक एक ऊँचे दर्जे का किसान का बेटा। उसे खेती नहीं सुहाती थी। वह गाँव गाँव में घूम फिरकर राजपूताने के चारणों की तरह कथा और कहानियाँ सुनाया करता था। गाँववाले उसकी आव-भगत करते थे, उसकी वाग्मिता और कहानी सुनाने की कुशलता से मोहित हो जाते तथा अज्ञात भाव से उसके पक्ष में हो जाते थे।

रासवेन जिस गाँव का हर्ता कर्ता विधाता था उस गाँव में एक छोटी सी नदी थी। इस नदी पर पुल नहीं था। जब उसमें पानी कम होता था तब लोग उसे योंही पार कर लेते थे किंतु बरसात की बाढ़ के समय पार होने में दो चार आदमियों की जान हर साल जाती थी। इतने पर भी किसी ने पुल बाँधने का प्रबंध नहीं किया।

२००० वर्ष पहले किसी जमींदार ने इस नदी पर यहाँ पुल बाँधना चाहा था। गाँववालों का विश्वास है कि उस तैयारी का फल बहुत ही बुरा हुआ था। गाँव में हैजा फूट निकला और आधे के लगभग गाँव की जनता उस बीमारी की भेंट हो गई। यह छोटी सी नदी गोया जलदेवी है। पुल देखकर वह अप्रसन्न हो गई—यों पुल बँध जाने से जलदेवी को वार्षिक बलि मिलना बंद हो जाता! रासवेन इन कुसंस्कारों को न मानता था। उसने इस नदी पर पुल बँधवाने की जिद की; गाँववालों के कुसंस्कार को कुचलकर उन्हें मौत के मुँह से बचाने का निश्चय किया। गाँव में आतंक की आँधी बहने लगी। प्रजा के मन में विद्रोह की आग धधकने लगी। गाँववालों ने विलिअम को अपना मुखिया बनाकर, उस आसन्न विभीषिका से बचने की आशा से, रासवेन के पास दूत की हैसियत से भेजा। विलिअम ने जमींदार को बहुत बहुत समझाया, धमकाने में भी कुछ कसर नहीं की; किंतु जमींदार अपनी जिद छोड़ने को किसी तरह राजी नहीं हुआ। विफल-मनोरथ होकर विलिअम अप्रसन्न चित्त से लौट आया। वह एक सूनसान बगीचे में बैठकर सोचने लगा—"जमींदार पुल बनाने का हठ कर रहा है, किंतु इससे नाराज होकर प्रजा पुल को तोड़ फोड़ डालेगी—जमींदार के घर-द्वार को भी जला सकती है। बड़ा दंगा हो जायगा। सैकड़ों आदमी जख्मी होंगे और मारे जायँगे। क्या इसको रोकने का कोई उपाय नहीं है?

है क्यों नहीं ! जिद्दी जमींदार को दुनियाँ से हटा दिया जाय। हत्या—नरहत्या? इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं! यह हत्या नहीं है—यह तो अत्याचारी का दमन है, दुर्वृत्त को दंड देना है। इससे सैकड़ों दुखियों का छुटकारा होगा—यह तो मुक्ति है! और इस मुक्ति के लिये निमित्त है विलिअम!"

विलिअम ने विलंब नहीं किया। एक पैनी छुरी लेकर वह फुर्ती से जमींदार के महल की ओर दौड़ा। महल में खिड़की की राह घुसते समय उसे जमींदार की भानजी छोटी लड़की मिल गई। यह विलिअम को पहचानती थी। उसे देखते ही, कहानी सुनाने के लिये, लड़की ने पकड़ लिया। रासवेन पास ही था। उसने मनुष्य की बोली सुनकर बाहर आकर विलि-अम को देखा। इससे वह प्रसन्न नहीं हुआ। किंतु उस भानजी के आग्रह को वह टाल नहीं सका। विलिअम ज्योंही कहानी कहने को तैयार हुआ त्योंही एकाएक उसकी पूर्व जन्म की स्मृति के किवाड़ खुल गए। वह कहानी के बहाने उसी पिछले सम्राट् और नायक की कहानी कहने लगा। रासवेन मुग्ध होकर सुनने लगा। उसने समझा कि वह ज़िद्दी सम्राट् मैं ही हूँ, और गाँववाले हैं वह अत्याचार से सताई गई प्रजा। उसका मुखिया बनकर विलिअम मेरी हत्या करने आया है। रासवेन ने कहा—"विलिअम! उसी पुराने वैर की याद करके क्या छुरी लेकर तुम बदला लेने आए हो?" विलिअम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सका। तब दोनों के बीच धीर

भाव से और एक बार समझौता हुआ। जमींदार ने अपनी भूल समझ ली—समझ लिया कि जिद से लोकमत को रौंदकर प्रजा की भलाई करना संभव नहीं है। पुल का बनाया जाना रोक दिया गया। जमींदार के मित्र की हैसियत से विलिअम उसका प्रधान मंत्री हो गया। पुराने वैर का हिसाब चुकता हो गया। किंतु 'हंता हतेन हन्यते।' इसके कुछ दिन बाद उसी नदी में भारी बाढ़ आई। होनहार की बात तो देखिए कि उस बहिया में विलिअम डूबने को हुआ तब रासवेन ने कूदकर उसके तो प्राण बचा दिए किंतु आप न उबर सका। उस दिन इस श्रेष्ठ बलिदान को पाकर क्या जल की देवी प्रसन्न हुई होगी ?

इस कहानी में हमें दो तत्त्व स्पष्ट देख पड़े। (१) 'हंता हतेन हन्यते'; (२) शेष कर्म का फल किस तरह भोगना पड़ता है।

बुद्धदेव ने भी इससे मिलती जुलती एक कहानी कही है। दो राजवंशों में कई पुश्तों से एक शोणित-कलह (blood-feud) प्रचलित था। इस वंश का जो प्रधान होता वह उस वंश के प्रधान की छल बल कौशल से हत्या कर डालता था। बदला लेने के लिये हत राजा के वंशवाले हत्यारे राजा की जान ले लेते थे। फिर इस पिछली हत्या का बदला लेने के लिये उन हत्यारों की हत्या की जाती थी। इस प्रकार कई पुश्तों से बढ़ता हुआ यह शोणित-कलह चला आ रहा था। इस बार जिसके हन्ता होने का नंबर था उसने सोचा कि "यह ढर्रा तो इसी तरह पुश्त दर पुश्त से चला आ रहा है। मेरे पिता, पिता-

मह और प्रपितामह ने दूसरों को मारा और वे खुद भी मारे गए। किंतु उससे क्या लाभ हुआ ? हटाओ झगड़ा, मैं इस बार बदला न लूँगा। पुश्तैनी झगड़े का अंत यहीं पर हो जाय।" यही हुआ। प्रतिद्वंद्वी राजा ने जब द्वंद्वी राजा के इस अच्छे विचार के समाचार सुने तो उसे भी बहुत पछतावा हुआ। उसने संधि करने के लिये स्वयं शत्रु को मित्रभाव से गले लगा लिया।

हत व्यक्ति यदि हत्यारे पर वैरभाव न रखे और हत्यारे को क्षमा कर दे तो उनके बीच देन-लेन का हिसाब बंद हो जाय। कर्म के विधान से यद्यपि हत व्यक्ति हत्यारे की मृत्यु का अनिच्छाकृत निमित्त रहता है तो भी दोनों के बीच का ऋण बेबाक हो जाता है।

कर्म के विपाक के संबंध में हमें एक बात पर और ध्यान देना चाहिए। दूसरे की सेवा और उपकार करने के अवसर को कभी खाली न जाने देना चाहिए। यदि कोई इस अवसर पर चूक जाता है तो उसे अगले जन्म में बहुत व्यर्थता और विडंबना सहनी पड़ती है। उसकी प्रबल आकांक्षा पग-पग पर कुंठित होती है, उसकी उच्च आशा प्रायः धूल में मिल जाती है और उसकी लोकोपकार करने की इच्छा, शक्ति और सामर्थ्य न रहने के कारण, निष्फलता की दल-दल में फँस जाती है*।

---

* Wasted opportunities reappear transmuted as limitations of the instrument and as misfortunes in the environment * * * The wasted opportunities are

कोई कोई जन्म से ही अंधा अथवा लूला-लँगड़ा, जड़ या उन्मत्त पैदा होता है। ऐसा क्यों होता है? यह किस पाप का विषम परिणाम है? कर्मतत्त्व का पता लगाने से मालूम होता है कि आत्मापराध-वृत्त का ही यह विषमय फल है। जो लोग पाप-प्रवृत्ति की प्ररोचना से प्राकृतिक विधि का उल्लंघन करते हैं, अथवा व्याधित, पीड़ित, आर्त, भीत या शरणागत पर अमानुषिक अत्याचार करते हैं उनकी अगले जन्म में ऐसी ही दुर्दशा होती है। कर्मदेवता लोग उसे ऐसे वंश में ले जाते हैं, उसे ऐसी कोख में पहुँचा देते हैं, ऐसे बीज से जन्म दिलाते हैं जहाँ ऐसी व्याधि उत्तराधिकार-सूत्र से संतान में संक्रमित हो सकती है। उसके फल स्वरूप वह जन्म से ही अंधा, बहरा, लूला-लँगड़ा, जड़ या उन्मत्त प्रभृति होता है और जन्म भर उस पुराने पाप के निशान को लादे रहता है*।

यहाँ तक व्यक्तिगत कर्म की आलोचना की गई। अब जातिगत कर्म की विपाक-प्रणाली की आलोचना की जायगी।

---

transformed into frustrated longings, into desires which fail to find expression, into yearnings to help blocked by the absence of power to render it, whether from defective capacity or from lack of occasion—*Karma*, P. 52.

* Congenital defects result from a defective etheric double and are life-long penalty for serious rebellions against law, or for injuries inflicted upon others * * * So again from their just administration of the Law come the in-wrought tendency to reproduce a family disease, the suitable configuration of the etheric double and the direction of it to a family in which a given disease is hereditary —*Karma*, P. 31.

व्यक्ति की संहति को जाति समझिए। एक जाति के व्यक्तियों में जो युतसिद्ध संयोग (Organic Unity) होता है वही जाति है। जिस प्रकार व्यक्तिगत कर्म है उसी प्रकार जातिगत कर्म है। जब एक जाति संहत रूप से किसी जाति का उपकार या अपकार करती है, उसका हित या अहित, कल्याण या अकल्याण, उन्नति या अवनति करती है तब उस जाति का वह कर्म जातीय कर्म कहाता है। इस प्रकार एक जाति के साथ अन्य जाति के कर्मबंधन की गाँठ जुड़ जाती है। इस ग्रंथि द्वारा एक जाति अन्य जाति के साथ कर्मसूत्र में बँध जाती है। व्यक्तिगत कर्म की भाँति जातिगत कर्म का भी फल भोगना पड़ता है; क्योंकि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'। तो जातीय कर्म का विपाक किस प्रकार होता है ?

दो जातियों के संस्पर्श से जहाँ लेन-देन हुआ है वहाँ एक जाति दूसरी जाति की साहूकार है। इस कर्मऋण की वसूली के लिये कर्म-देवता लोग इन दोनों जातियों को परस्पर संयुक्त कर देते हैं। जैसे इँगलैंड और भारतवर्ष। जब ईस्ट इंडिया कंपनी इस देश में पहले पहल व्यापार करने आई थी तब यूरोप की और भी कई प्रबल जातियाँ इस देश में आकर कोठी-वाली कर रही थीं। उनमें से बहुतों की, खासकर फ्रांसी-सियों की, भारतवर्ष में अपना साम्राज्य जमाने की प्रबल इच्छा थी। आरंभ में राजपुरुषों या ब्रिटिश जाति की इच्छा यह न थी कि इस देश में ईस्ट इंडिया कंपनी राज्य की जड़ जमावे।

परंतु विधाता ने घटनाचक्र को इस तरह घुमाया कि बहुत कुछ बाध्य होकर इँगलैंड को भारतवर्ष के साथ नाता जोड़ना पड़ा। हम अब तक नहीं जानते कि इस संबंध का परिणाम क्या होगा। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि यह संबंध जातीय कर्म का विपाक है। 'आनंदमठ' में बंकिमचंद्र ने 'सत्यानंद' गुरु के मुँह से इस संबंध का शीघ्र फल प्रकट कराया है।

किसी किसी तत्त्वदर्शी के मुँह से सुना है कि अँगरेज जाति ने विपुल त्याग करके नीग्रो जाति को दासता से मुक्त करने का जो पुण्य संचित किया था उसी का साक्षात् पुरस्कार यह भारत-साम्राज्य है। दुष्कृति के द्वारा सुकृत का नाश हो सकता है, सुयोग का ठीक ठीक व्यवहार न करने से दुर्योग का उदय हो जाता है, सुदिन में संयत और संहत न होने से सुदिन ही दुर्दिन हो जाता है। अँगरेजों के जातीय कवि किपलिंग ने एक दिन स्वजाति को सावधान किया था— 'Lest we forget' 'भाइयो! भूल मत जाना'। हम भी अँगरेज जाति से सावधान होने के लिये कहते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के अमल में इस देश में अनेक अत्याचार और अनाचार हुए थे—भारतवासी बहुत सताए गए थे। ये सब बातें इतिहास पढ़नेवालों से छिपी नहीं हैं। इन जातीय पापों की बदौलत इँगलैंड का पिछला पुण्य बहुत अधिक मात्रा में कम हो गया है। अब समय रहते रहते उसे भारतवर्ष में स्वराज की स्थापना करके भारतीयों की उन्नति और अभ्यु-

दय का मार्ग खोल देना चाहिए; क्योंकि विधाता का रोष बड़ी भयानक चीज है। विधाता की क्रोध-पूर्ण दृष्टि पड़ते ही सब जलकर खाक हो जाता है। धर्मभीरु वृद्ध मंत्री ग्लैडस्टन लिख गए हैं—

I am in dread of the Judgment of God upon England for our national iniquity towards China

अर्थात् "चीनी जाति के संबंध में (अफीम के मामले में) अपनी जातीय दुष्कृति के लिये हम विधाता के रोष के डर से शंकित हैं।" चीन को लक्ष्य करके ग्लैडस्टन साहब ने जो बात कही थी वही भारतवर्ष को लक्ष्य करके भी कही जा सकती है। अतएव इँगलैंड को सावधान होना चाहिए।

श्रीमती एनी बेसंट ने एक ज्वलंत उदाहरण दिया है जिससे पता चलता है कि इस जातीय दुष्कृति का विपरिणाम कैसा शोचनीय होता है*। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में जब स्पेन का सौभाग्यसूर्य मध्यगगन में चमक रहा था और वह सारे पाश्चात्य मंडल का अगुआ था, तब विधाता ने स्पेन को एक अतुल सुयोग दिया। कोलंबस के प्रयत्न और साहस के फल से अमेरिका का आविष्कार हुआ और क्रमशः वह जीता जाकर अधिकृत हो गया। अब अमेरिका का विपुल वैभव और विराट् भूभाग स्पेन के अधिकार में आ गया।

---

* See Mrs. Annie Besant's Evolution of Life and Form" —Ch. II.

किंतु स्पेन ने इस सुयोग से क्या लाभ उठाया? जिन्होंने मेक्सिको और पेरू-विजय की शोक-कहानी पढ़ी है वे स्पेन के अमानुषिक अत्याचार और आसुरी दुर्व्यवहार से पीड़ित और मर्माहत हुए हैं। स्पेन के इस आसुरिक अत्याचार से एक प्राचीन, निरीह, निरपराध, शांत, शिष्ट, सरल जाति अकाल में ही नष्ट हो गई। उस जाति की सुकुमार सभ्यता, शिल्प, संगीत और सौंदर्य का चिह्न भी न रह गया। इस प्रकार स्पेन ने एक उत्कट दुष्कृति अर्जित की। चित्रगुप्त के खाते में उसके नामे एक बहुत बड़ी रकम लिखी गई। इस कर्म का विपाक क्या हुआ? क्योंकि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म।" शताब्दी के बाद शताब्दी निकल गई। जिस अमेरिका को स्पेन ने पर्युदस्त और पद-दलित किया था उसी अमेरिका में एक नई जाति का अभ्युदय हुआ। वह मार्किन जाति है। इस जाति ने इँगलैंड से अलग होकर युक्त राज्य की स्थापना की। यह जाति समृद्धि तथा सभ्यता में उन्नत हो गई। समय पूरा हो जाने पर इस जाति के साथ स्पेन का संघर्ष उपस्थित हुआ। इससे स्पेन और अमेरिका के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया। स्पेन पग-पग पर लांछित, अपमानित और पराजित हुआ तथा अंत में अमेरिका से भागकर किसी प्रकार इसने अपना पिंड छुड़ाया। अब स्पेन का वह बल-विक्रम, वह दर्प-दंभ और उछल-कूद कहाँ है? अतीत युग में उसने जिसको सताया था उसी के हाथ से अब विधाता ने

स्पेन की मिट्टी-पलीद कराई। जातीय कर्म का विपाक इसी तरह निष्पन्न होता है। विधाता का चक्र इसी तरह घूमता रहता है।

इस प्रकार देखने से हम भारतवर्ष की युगव्यापी पराधीनता के बीच में एक प्रच्छन्न कर्मसूत्र का आविष्कार कर सकते हैं। विधाता की यह कैसी विचित्र लीला है कि लगातार हजारों वर्ष से हमारी यह पुण्यभूमि विदेशियों की अवज्ञात पादपीठ हो रही है। यवन, शक, हूण, पारसी, पठान, मुगल, अफगान, फरासीसी, दिनेमार और अँगरेज आदि न जाने कितने विजेताओं का विजय-प्लावन इस देश की छाती के ऊपर से बह गया है! तरह तरह से भारतवासी लांछित, धिक्कृत, अपमानित और अत्याचारित हो रहे हैं! किस दुष्कृत, किस जातीय दुर्विपाक के कारण भारत की यह दुर्दशा हो रही है?

तनिक गंभीरता के साथ विचार करने पर जान पड़ता है कि हमारे आर्य पूर्वजों ने इस भारतवर्ष में आकर उस युग के 'नेटिव' अनार्यों का जो निपीड़न और निर्यातन किया था उसी जातीय अपकर्म का फल हम इतने दिनों से भोग रहे हैं। इस संबंध में कवि रवींद्रनाथ ने मर्मस्पर्शी भाषा में लिखा है कि हे मेरे भाग्य-हीन देश, तुमने जिनका अपमान किया है उन्हीं के समकक्ष होने के लिये तुम्हें अपमानित होते रहना पड़ेगा।

"पता नहीं, हमारी इस दुष्कृत-कालरात्रि का अंत कितने दिन में होगा* !"

हमारे पुराण आदि में नारद का जो चरित मिलता है उससे जान पड़ता है कि इस जातीय कर्म-विपाक-क्रिया में—जाति जाति के बीच कर्म-ऋण के लेन-देन और समीकरण में—नारद का एक विशेष संपर्क है; हम अगले अध्याय में उस विषय को दिखलावेंगे और इस बात की छान-बीन करेंगे कि कर्म के विधातागण जटिल कर्मसूत्र की गाँठ किस प्रकार खोलते हैं।

---

* इस संबंध में लेखक ने सन् १९०६ ईसवी में Philosophy of the Gods नामक ग्रंथ में इस प्रकार लिखा था—

I sometimes think that the fallen condition of the Hindu nation is the 'Karmic' retribution for the treatment, in the past, of the Non-Aryan races of India whom they had conquered. From Alexander the Great to Lord Clive, how many nations came and conquered India, oppressed and pillaged her, trod her under foot and denuded her of her treasure! And the last act of the drama is not yet complete; the bad karma of India is still being worked out.

अष्टम अध्याय

कर्म-विधाता

कर्म-विपाक के प्रसंग में हमने कई बार कर्म-विधाताओं का उल्लेख किया है। यह अथवा ये लोग कौन हैं ?

हमारे देश में एक विश्वास प्रचलित है कि बच्चे के जन्म से छठे दिन विधाता, सूतिकागृह में गुप्त रूप से जाकर, बच्चे के माथे में उसके भाग्य का लेख लिख देते हैं। यह लिखावट अदृश्य लेखनी से लिखी जाती है; किंतु सूक्ष्म होने पर भी इसे पोंछ डालना संभव नहीं। यह विश्वास निराधार जान पड़ता है; क्योंकि प्रत्येक का भाग्य या अदृष्ट उसके पैदा होने से बहुत पहले के जन्म में किए हुए कर्म द्वारा निरूपित होता है।

एक और भाग्यविधाता की बात सुनी जाती है—ये धर्म-राज यम के खजांची चित्रगुप्त हैं। ये हाथ में कलम लिए हुए, यमराज के घर दफ्तर में, बैठे बैठे एक मोटे से बहीखाते में प्रत्येक मनुष्य के पाप-पुण्य का ठीक ठीक हिसाब लिखते रहते हैं। वह हिसाब इतना सही होता है कि उसमें एक कौड़ी तक की भूल नहीं निकलती। देहांत होने पर मनुष्य जब यम के घर पहुँचाया जाता है तब चित्रगुप्त के इस खाते की रू से उसके पुण्य-पाप का हिसाब होता है और तब, उसके फलस्वरूप, वह या तो कर्मभोग के लिये नरक में भेजा जाता है या स्वर्ग में।

यह विश्वास सर्वथा निराधार नहीं है। हम जो भी कर्म करते हैं—वह चिंतन, वासना या चेष्टना कुछ भी क्यों न हो—उसका गुप्त चित्र आकाशपट में चिर दिन के लिये अंकित रहता है। थियासफिस्ट लोग इस चित्रावली को 'Akasic Records' कहते हैं। जिनको दिव्यदृष्टि प्राप्त है उनकी दृष्टि के सामने यह चित्रावली प्रकट हो जाती है। वे चाहे जिस जीव की अतीत कथा (इस जन्म की हो, चाहे किसी पिछले जन्म की) ठीक ठीक पढ़ सकते हैं। धर्मराज यम के लिये ये आकाशिक चित्र 'करकलितकुवलयवत्' जँचें तो इसमें विचित्रता ही क्या है? किंतु उसके लिये उन्हें क्या यह जरूरत है कि खजांची दावात कलम लिए खाता खोले बैठा रहे? हाँ, इन गुप्त चित्रावलियों के जो रक्षक हैं उनका 'चित्रगुप्त' नाम सार्थक जँचता है।

इस आकाशिक चित्रावली के रक्षकों का नाम प्राचीन ग्रंथ में 'लिपिक' है। ये लोग इस ब्रह्मांड के अत्यंत उच्च स्तर के देवता हैं। इनका अधिकार और कार्य-कलाप मनुष्य-बुद्धि के लिये अगम्य है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि यही लोग साक्षात् रूप से मनुष्यों के भाग्य-विधाता और जन्म-मरण आदि के व्यवस्थापक हैं। अवश्य ही परोक्ष रूप से परमेश्वर ही जीव के कर्मफल का दाता है—

स वा एष महान् अज आत्मा वसुदानः*—बृह, ४।४।२४

---

*वसुदानः = फलदाता।

उन्हीं से जीव को कर्मफल मिलता है—

फलमत उपपत्तेः—ब्रह्मसूत्र, ३। २। ३८

परंतु इस फल-प्रदान के मामले में ये लिपिक लोग ही भगवान् के सहकारी, उनके नियोगधारी अधिकारी पुरुष (Functionaries) हैं*।

तत्त्वदर्शियों का कहना है कि इन लिपिकों की अधीनता में चार दिक्पाल नियुक्त रहते हैं—इनका नाम 'महाराज' है। ये लोग लिपिकों के महापात्र या अमात्यस्थानीय—जीवों के विचित्र कर्म के सूत्रधार, जटिल कर्मग्रंथि के निर्धारक और साक्षात् रूप से कर्म के विधाता हैं†। इन लोगों की अधी-

---

* इस संबंध में मैडम ब्लैवेट्स्की ने अपने Secret Doctrine ग्रंथ में लिखा है—

The Lipika are the Spirits of the universe. (They) belong to the most occult portion of cosmogenesis, which cannot be given here * * * Of its highest grade one thing only is taught, the Lipika are connected with Karma—being its direct Recorders—Vol. 1, page 153.

They are the 'Second Seven' and They keep the Astral Records filled with the Akasic images before spoken of. They are connected with the destiny of every man and the birth of every child— *Karma, page* 46.

† इन महाराजाओं के संबंध में मैडम ब्लैवेट्स्की लिखती हैं—

They are the protectors of Mankind and also the agents of Karma on earth (Secret Doctrine, I, 151). These are the "Four Maharajas" or Great Kings of the Dhyan Chohans, the Devas, Who preside over each of the four cardinal points * * * These Beings are also connected with Karma as the latter needs physical and

नता में ही इनके अनुचर परिकर देवगण—व्यक्तिगत और जातिगत—कर्म के विपाक और सामंजस्य का विधान करते हैं। यह किस तरह ?

जब किसी जीव का जन्मांतर-काल उपस्थित होता है तब ये कर्म-विधातागण ही उसके विविध और विचित्र 'संचित' कर्मों में से उन कर्मों को छाँट लेते हैं जो देश-काल-पात्र की सहायता से उस जन्म में क्षीण हो सकते हैं; इस प्रकार वे उसके 'प्रारब्ध' कर्म का निर्धारण करते हैं। और जिस देश, कुल और पारिपार्श्विक अवस्था में जन्म लेने से उस प्रारब्ध का भोग ठीक ठीक हो सकता है उसी देश, कुल और अवस्था के बीच उसके उत्पन्न होने की व्यवस्था कर देते हैं। उपनिषद् से हमें ज्ञात होता है कि सूक्ष्म-देहधारी जीव पहले पिता के शरीर में प्रवेश करता है और वहाँ से माता की कोख में पहुँचता है। यही 'गर्भाधान' है। वैज्ञानिकों ने अनुवीक्षण यंत्र की सहायता से परीक्षा करके देखा है कि ये निषिक्त बीज सभी क्षेत्रों में एक से हैं; अर्थात् जिस बीज से मनुष्य का बच्चा पैदा होता और जिस बीज से बकरा, घोड़ा, भेड़ा या भैंसा प्रभृति पशुओं के बच्चे पैदा होते हैं वे सभी

---

material agents to carry out its decrees.—Secret Doctrine, I, 147.

(The) mighty spiritual Intelligences, often spoken of as the Lords of Karma * * * hold the threads of destiny which each man has woven, and guide the reincarnating man to the environment determined by his past—Ancient Wisdom, pp. 268-69.

बीज देखने में अभिन्न हैं। तो फिर मनुष्य के रेतस् से मनुष्य और पशुओं के रेतस् से ठीक वही वही पशु कैसे पैदा होते हैं ? विज्ञान इस शंका का कोई ठीक उत्तर नहीं दे सकता। किंतु हमें कर्मवाद से इसका उत्तर मिल जाता है। गर्भाधान की संभावना होने पर ये कर्म के विधाता लोग, 'लिपिक' देवों की आज्ञा से, उपजनेवाले बच्चे के प्रारब्ध कर्म का ठीक अनुयायी एक ईथरीय ठप्पा (Etheric Mould) तैयार करके माता की कोख में स्थापित कर देते हैं। पुं-बीजाणु (Sperm) और स्त्री-बीजाणु (Germ) के सह-योग से कलल या भ्रूणाणु उत्पन्न होने के बाद अणु के ऊपर अणु उपचित और संचित होता है तथा उत्पन्न होनेवाले बच्चे का जो स्थूल शरीर गठित होना आरंभ होता है वह इसी ईथ-रीय ठप्पे के अनुसार गठित होता है। इसी लिये मनुष्य-बीज से मनुष्य और पशुबीज से पशु उत्पन्न होता है*। इस संबंध में एक और विशेषता है। यों समझिए कि उत्पन्न होनेवाले बच्चे को एक कलावित् करना है; क्योंकि जमांतर में इस

---

*(The Lipika) give the 'idea' of the physical body, which is to be the garment of the reincarnating soul, expressing his capacities and his limitations; this is taken by the Maharajas and worked into a detailed model, which is given to one of their inferior agents to be copied; this copy is the etheric double, the matrix of the dense body, the materials for these being drawn from the mother and subject to physical heredity.—Ancient Wisdom, p. 350.

जीव में संगीत शक्ति ने खासा उत्कर्ष प्राप्त किया था। इस दशा में कर्मविधाता-गण क्या करेंगे ? उसके लिये ऐसे वंश, ऐसे पिता-माता की व्यवस्था करेंगे जिससे वह उत्तराधिकार-सूत्र में उन सुकुमार स्नायुओं (Delicate nervous organisation) और गीतग्राहक श्रुति (Sensitive Ear) को माता-पिता से प्राप्त कर सके। इसी प्रकार यदि उसे कसरती पहलवान बनाने की आवश्यकता हो—यदि उसके प्रारब्ध कर्म के अनुसार उसे दिग्विजयी वीर बनाना आवश्यक हो तो कर्मविधातागण उसे उत्पन्न होने के लिये बलिष्ठ, कर्मठ, दृढ़-काय पिता-माता के पास भेजेंगे।

इसी प्रकार जो जीव दुर्वृत्त है, जिसमें खल प्रकृति प्रबल है उसे कर्मविधाता लोग दुर्वृत्त, दुरात्म-परिवार में जन्म के लिये भेज देते हैं। ऐसे पिता-माता के द्वारा उसे जो कदर्य स्थूल शरीर प्राप्त होता है उसी की सहायता से उसकी प्रकृतिगत दुष्प्रवृत्ति और दुर्वासना चरितार्थ हो सकती है। यों समझिए कि यह पैदा होनेवाला शिशु पिछले जन्मों में नामी पियक्कड़ था। बहुत अधिक मदिरा पीने के कारण उसका सूक्ष्म शरीर श्लथ और क्षीण हो गया है। इसके फलस्वरूप इस जन्म में उसका स्नायुमण्डल दुर्बल होना चाहिए। इस दशा में कर्मविधाता-गण क्या करते हैं ? उसके पुनर्जन्म का समय उपस्थित होने पर उसे ऐसे शराबी माँ-बाप के घर में ले जाते हैं जिनका शरीर बेहद शराब पीते पीते क्षत और

पीड़ित हो गया है। फलतः उत्तराधिकार-सूत्र में उसे ऐसी देह मिलती है जिसमें मिरगो (delirium) प्रभृति रोगों के बीज रहते हैं* ।

हमने एक तत्त्वदर्शी के मुँह से सुना है कि एक कामुक व्यक्ति का पिछले जन्म में, अपनी पशुप्रकृति की उत्तेजना से, अत्यधिक इंद्रिय-सेवा करके भी मन नहीं भरा; अंत में वह एक सात्विक प्रकृति की तपस्विनी पर झपट पड़ा। यह बड़ा भयंकर पाप था। इसके कारण उसे अगले जन्म में पंगु और उन्मत्त होना पड़ा।

यहाँ भी हम कर्म-विधाताओं की कार्यावली साफ देख सकते हैं। इस लंपट के कर्म-विपाक के लिये इस जन्म में

---

* जिन्हें Hereditary disease और deformity कहते हैं ऐसे पैतृक व्याघात और व्याधियाँ यद्यपि हैं तो जीव के पिछले जन्म के किए हुए कर्म का विपाक, फिर भी उसके निमित्त कारण कर्म-विधाता-गण ही हैं। श्रीमती एनी बेसंट ने अपने 'कर्म' ग्रंथ में इस बात को खुलासा कर दिया है—

Congenital defects result from a defective etheric double * * * All such arise from the working of the Lords of Karma and are physical manifestations of the deformities necessitated by the errors of the Ego, by his excesses and defects * * *

So again from Their just administration of the Law come the in-wrought tendency to reproduce a family disease, the suitable configuration of the etheric double. and the direction of it to a family in which a given disease is hereditary, and which affords the 'continuous plasm' suitable to the development of the appropriate germs.—*Karma*, *p. 53.*

उसका विकलांग और उन्मत्त होना आवश्यक था। इसी लिये कर्म-देवताओं ने उसे ऐसे पिता के द्वारा उत्पन्न किया, ऐसी माता की कोख में पहुँचाया जहाँ उसके शरीर में यह पंगुत्व और जड़त्व उत्तराधिकार सूत्र से संक्रमित हुआ।

ऐसे सभी स्थानों में हमें यही देखना चाहिए कि कर्म-देवता-गण प्रतिहिंसा-परवश होकर दंड-विधान नहीं करते। वे प्रसन्न-वदन और शुद्ध चित्त से कर्म के विचित्र विधान को कार्य में परिणत किया करते हैं—जिसको जो न्याय से प्राप्य है उसे वह कौड़ी पाई से बड़ी शांति से दे देते हैं। वे तो कर्म-चक्र को चलानेवाले मात्र हैं—प्रवर्तक नहीं। 'स्वकर्मफलभुक् पुमान्'—पैदा होनेवाला व्यक्ति इस जन्म में भोग के लिये जो प्रारब्ध कर्म साथ ले आता है उसी के भोग की व्यवस्था वे लोग कर देते हैं।

तो क्या जन्म की व्यवस्था कर देने से ही कर्मविधाताओं का कर्तव्य पूरा हो जाता है? नहीं। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक जीव जन्म-जन्मांतर के अन्य जीव के साथ अपना संबंध स्थापित करता है—उसका हित या अहित, शुभ या अशुभ, उपकार या अपकार करता है। इस प्रकार उन लोगों के बीच कर्मबंधन फैल जाता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का ऋणी हो जाता है—दोनों के हिसाब-किताब को ठीक रखने की आवश्यकता हो जाती है। इस लेन-देन की वसूली के लिये कर्मदेवतागण उन दो व्यक्तियों को संयुक्त और वियुक्त कर

देते हैं जिनमें एक तो ऋणी है और दूसरा महाजन। यह इस-लिये किया जाता है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे के संस्पर्श में आ जावे और इस तरह उनका पूर्वकृत कर्म-ऋण बेबाक हो जाय*। इसी लिये कर्म-विधातागण जीवों को ऐसी घटना और दशा में स्थापित कर देते हैं, ऐसे देश में पहुँचा देते हैं, ऐसे समय से उन्हें संयुक्त कर देते हैं और ऐसे पात्र का समावेश करते हैं जिससे आपस का देन-लेन साफ हो जाय।

कई बार हम स्वाधीन इच्छा (Free will) द्वारा कर्मचक्र के बीच में नई शक्ति और संभावना जोड़ देते हैं। यद्यपि यह कर्म-विधान के अनुगुण होता है तो भी उसमें कर्मविधाता-गण सहायता देते हैं। इस संबंध में एक प्राचीन कहानी प्रचलित है। एक कंजूस ने पिछले जन्म में बहुत आदमियों को धोखा देकर और सता करके बहुत धन-दौलत जमा की थी। इसके फलस्वरूप उसे अगले जन्म में बहुत ही दीन-दरिद्र होना पड़ा। वह दिन भर भीख माँगकर बड़ी मुशकिल से अपना पेट भर पाता था और शीर्ण तथा मलिन दशा में जीवन बिता रहा था। एक दिन महादेव-पार्वती आकाश-मार्ग से जा रहे थे। उस भिखमंगे को देखकर पार्वती को दया आ गई। उन्होंने महादेव से कहा—"मैं इस दरिद्र के दारिद्र्य को दूर करूँगी"। अब उन्होंने उस मार्ग पर अपने गहने

---

* Devas bring people together and carry them apart, always for the working out of their individual Karma—Evolution of Life and Form, page 7.

गिरा दिए जिस पर कि उक्त भिखारी जा रहा था। वे चाहती थीं कि भिखारी उन गहनों को पास ही पड़े देखकर उठा ले और उनकी बिक्री से धन पाकर मालदार हो जाय। किंतु अदृष्ट तो साथ ही साथ था। कर्म में तिल भर भी अंतर कौन कर सकता है ?

नमस्तत्कर्मभ्यः विधिरपि न येभ्यो प्रभवति।

'अर्थात् कर्म ही बलवान् है। उसे विधि भी विफल नहीं कर सकते'। एकाएक उस भिखारी को अंधों की तरह चलने की इच्छा हुई। उसने सोचा कि देखूँ, आँख मूँदकर चलने में क्या मजा है। बस, अब वह आँखें मूँदकर चलने लगा और जहाँ पर पार्वतीजी के गहने पड़े थे उस स्थान से आगे बढ़ जाने पर ही उसने आँखें खोलीं। फलतः वह ज्यों का त्यों भिखारी बना रहा। यहाँ पर भी हम इन कर्म-विधाताओं का हस्तक्षेप देख सकते हैं। उन्होंने देखा कि जो चीज जिसे न मिलनी चाहिए वही उसे मिली जाती है ! इसी लिये उन्होंने भिखारी के मन में अंधे की चाल चलने की इच्छा उत्पन्न कर दी।

इस संबंध में और भी दो-एक दृष्टांत दिए जायँगे। लोग जिसे Accident या आकस्मिक घटना कहते हैं वह किस प्रकार हो जाती है ? नियमों से जकड़े हुए इस जगत् में क्या कुछ एक्सिडेंट (Accident) हो सकता है ? कर्म की अमोघ गति हठात् या आकस्मिक कारण से कभी व्याहत नहीं

हो सकती। एक आदमी ने एक खास ट्रेन से विदेश जाने का पूरा प्रबंध कर लिया है। आज रात को बंबई मेल से वे काशी जायँगे। सामान, बिस्तर आदि सब बँधा तैयार है। किराए की मोटर पर सवार होकर वे घर से हवड़ा स्टेशन के लिये रवाना हुए। रास्ते में एकाएक मोटर बिगड़ गई अथवा हवड़ा के पुल के पास, गाड़ियों का ताँता पार न कर पाने से, एक मिनिट की देर हो गई और गाड़ी खुल गई। लाचार होकर उन्हें उदासी के साथ घर वापस जाना पड़ा। वे उस रात को काशी न जा सके। अगले दिन समाचारपत्रों के तार-समाचारों में देखा कि गाड़ियों के परस्पर लड़ जाने से वह गाड़ी चूर चूर हो गई है जिसमें वे जाना चाहते थे और वे उस गाड़ी में न जा सकने के कारण अकस्मात् बच गए। उन्होंने आराम की साँस लेकर कहा "बड़ी बात हुई कि गाड़ी निकल गई थी!" एक और आदमी ने सिंगापुर जाने के लिये जहाज में "बर्थ रिजर्व" कराकर जाने की सोलहों आने तैयारी कर ली। आज ५ बजे खिदिरपुर जेटी में जाकर जहाज पर सवार होना है। रात को ११ बजे जहाज खुलनेवाला है। तीन बजे एकाएक उन्हें जाड़ा देकर बुखार चढ़ आया। वे सिर से पैर तक रजाई ओढ़कर पड़ रहे। इस आकस्मिक कारण से उनका सिंगापुर जाना रुक गया। ठीक समय पर लंगर उठाकर जहाज रवाना हो गया। जहाज पर बहुत से मुसाफिर सवार हैं, एक वही अनुपस्थित हैं। २-३ दिन

तक जहाज मजे में चलता रहा। समुद्र में पहुँचकर जहाज तरंगों के साथ अठखेलियाँ करता हुआ रंगून की ओर बढ़ने लगा। तीसरे दिन सूर्यास्त होने से पहले एकाएक भयंकर तूफान, बंगाले की खाड़ी में हलचल मचाता हुआ, उसी जहाज की ओर बढ़ा। उस तूफान के प्रबल वेग को जहाज न सँभाल सका। एकाएक डगमगा करके समुद्र की तह में बैठ गया। हमारे मित्र ने ३-४ दिन के बाद, कुनाइन के सेवन द्वारा किसी प्रकार ज्वर से पीछा छुड़ाकर, समाचारपत्र को खोलकर देखा कि वह जहाज—जिसमें उनके लिये जगह रिजर्व हुई थी—समुद्र में डूब गया है। तब उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—Providential Escape "विधाता ने बचा दिया!" इन एक्सिडेंटों का प्रबंध कौन करता है?

कई वर्ष पहले काँगड़े में जो भीषण भूकंप हुआ था—जिस भूकंप के मारे बड़े बड़े महल गिर गए थे और सैकड़ों नर-नारियों के अकाल में ही प्राण गए थे—उसके उपलक्ष में भी ऐसी ही कई घटनाएँ लेखक को मालूम हुई थीं। यह भूकंप एकाएक हुआ था, इसकी पूर्व सूचना दो-चार घंटे पहले तक किसी को न थी। जिस दिन भूकम्प हुआ उससे एक दिन पहले क्या देखा कि कुछ आदमी, बिना ही मतलब के, काँगड़े में पहुँच गए और इसी प्रकार कई आदमी वहाँ से, बिना ही प्रयोजन के, कहीं बाहर चले गए। कर्म के विधान से जिनकी मौत एक्सिडेंट से

होनी थी वे ही, कर्म-देवता की प्रेरणा से, काँगड़े में आए और जिनकी जिंदगी बाकी थी वे उस दिन काँगड़े से बाहर चले गए।

इस संबंध में लेखक ने अपने पिताजी से एक किस्सा सुना है। वह यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। एक दिन आँधी-पानी में कई बटोही एक टूटे-फूटे शिवालय में टिक रहे। अकस्मात् आँधी-पानी के आ जाने और पास में कोई आश्रयस्थान न रहने से उन्हें शिवालय में ठहरना पड़ा। अँधेरी रात थी और आकाश में घटाएँ छाई हुई थीं। बीच बीच में बिजली चमक रही थी। मानों गिरने के लिये गाज तैयार है, किंतु गिरती नहीं है। उस शिवालय में जा लोग ठहरे हुए थे उनमें एक आदमी बहुत 'बुद्धिमान्' था। उसने सबको सलाह देकर कहा—"देखो बिजली कड़क रही है, गाज गिरना चाहती है। हम लोगों में अवश्य ही कोई महापापी है जिसके सिर पर यह गाज गिरना चाहती है। किंतु इस शिवालय में हम पुण्यात्माओं के रहने से, हम लोगों के कारण, वह गिर नहीं सकती। आओ, हम लोग बारी बारी से मंदिर से बाहर निकलकर खड़े हों। जिसके सिर पर गाज गिरने को होगी उसी के सिर पर गिर पड़ेगी।" उसके साथियों ने यह बात मान ली। तब उस मंदिर के आदमी बारी बारी से बाहर निकलकर, सिर झुकाकर, गाज गिरने की प्रतीक्षा में जा खड़े हुए। किंतु गाज फिर भी नहीं गिरी। अंत में क्या देखा

कि मंदिर के एक कोने में एक आदमी छिपा बैठा है। वह मंदिर से बाहर जाने को किसी तरह राजी नहीं होता। तब दूसरों ने उसे पकड़कर जबर्दस्ती शिवालय से बाहर कर दिया। वह डर के मारे खुले आकाश के नीचे खड़ा खड़ा काँपने लगा। साथी लोग उसे शिवालय के बाहर खड़ा करके मंदिर के भीतर चले गये। वे आपस में कहने लगे, "यही पापी है, इसी से छिपा हुआ बैठा था; देख लेना, इसके सिर पर इसी दम वज्रपात होगा।" एकाएक अँधेरे को चीरकर बिजली चमकी। साथ ही साथ कड़कड़ाकर गाज गिरी। किंतु गाज शिवालय के समीप खड़े उस भयार्त बटोही के सिर पर न गिरकर शिवालय पर ही गिरी जिससे मंदिर के भीतरवाले सभी आदमी मर गए। एक उसी बाहर खड़े बटोही के प्राण बच गए*।

ये आकस्मिक घटनाएँ 'एक्सिडेंट' नहीं हैं; इन सारी घटनाओं के घटक और प्रवर्तक वही कर्म-विधातागण हैं। रेल की दुर्घटना, जहाज का डूब जाना, बाढ़ आना, भू-कंप होना

* If a man's Karma does not permit of a violent death, say by a railway collision, the Devas will take advantage of circumstances to make him miss the train. If he is not destined to find a watery grave by shipwreck, he will be made to change his plan at the last moment and to miss going by the ship which is to go down. But if his Karmic requirement is the other way, then he will be guided to his doom and will meet with his "accident." Thus Karma works.

—Philosophy of the Gods, page 77.

और आग लगना आदि बड़ी बड़ी प्राकृतिक घटनाओं का सुयोग पाकर वे लोग अनेक नर-नारियों के कर्म-विपाक को एक साथ सिद्ध कर देते हैं और इस प्रकार उनके कर्म-ऋण का हिसाब चुकता कर देते हैं।

यहाँ तक हमने व्यष्टि अथवा व्यक्तिगत कर्म के संबंध में कर्म-विधाताओं की कार्यावली पर विचार किया। अब समष्टि अथवा जातिगत कर्म के संबंध में उनकी कार्यप्रणाली की कुछ आलोचना की जायगी।

हम देख चुके हैं कि व्यक्ति की समष्टि ही जाति है। जिस प्रकार व्यष्टि-मनुष्य का कर्म और उसका विपाक है उसी प्रकार समष्टि-मनुष्य-जाति का भी कर्म और उसका विपाक है। इस विपाक के भेद और प्रणाली के संबंध में, पिछले अध्याय में, हम कुछ कुछ आलोचना कर चुके हैं। हमने देख लिया है कि कर्म-ऋण के लेन-देन के लिये ऋणी जाति और साहूकार जाति का परस्पर संबंध और नैकट्य स्थापित होता है। इस अध्याय में हमने इस विषय के दो-एक उदाहरण भी दिए हैं। इस संबंध की स्थापना किस प्रकार होती है? कहने की आवश्यकता नहीं कि वह 'एक्सिडेंट' नहीं है। उसमें भी कर्म-विधाताओं की करामात है। वे लोग ही एक जाति को दूसरी जाति के संस्रव में ले आते हैं, एक जाति के द्वारा दूसरी जाति को जितवा देते हैं, एक जाति के द्वारा दूसरी जाति का दलन और दमन कराते हैं और एक जाति के संस्पर्श

से दूसरी जाति को उन्नत या अवनत कराते हैं। इस प्रकार जातीय कर्म का सामंजस्य होता है और जातिगत विषमता मिटती है* ।

ऐसे दृश्य विरल नहीं हैं कि एक प्रतापी सभ्य जाति के अत्याचार या निपीड़न से एक निरपराध असभ्य जाति विशीर्ण और शुष्क होकर धीरे धीरे भूतल से तिरोहित हो गई। आस्ट्रेलिया के मेरियों (Maoris) और अमेरिका के रक्तांगों (Red Indians) की यही दशा हुई है। यह भी जातिगत कर्म है। इस जातीय कर्म का विपाक क्या है ? ऐसी दशा में कर्म-विधाता-गण इन असभ्यों को बहुत जल्द उन उन सभ्य जातियों के सबसे नीचे के स्तर में उत्पन्न करते हैं। वे लोग उस सभ्यता के slum population हैं—नर के आकार में पशु होते हैं; कोई शांत होते हैं और कोई दुरंत, किंतु प्रायः सबके सब बुद्धिहीन, विवेकहीन, संयमहीन और संभ्रमहीन होते हैं। इनके कारण सभ्य जाति बड़े संकट में पड़ जाती है—न तो वह इन्हें निगल सकती है और न उगल सकती है। वह उन्हें तरह तरह से सभ्य-भव्य, शिष्ट-शांत बनाने की चेष्टा

---

* Suppose one nation commits a crime against another nation. If so, this must meet with Karmic retribution and the scale re-adjusted. By whom and how? By the Devas who bring the nations together to balance up the accounts that are between them and so restore equilibrium and make each nation reap as it has sown.—

Philosophy of the Gods, pp. 78-79.

करती है किंतु फल कुछ भी नहीं होता। इन लोगों के साथ श्रौर साहचर्य के फल से वह उन्नत सभ्यता धीरे धीरे अवनत श्रौर अवसन्न हो जाती है। इस प्रकार कर्म के विधातागण कर्म-ऋण का भुगतान करते हैं।

कभी कभी देखा जाता है कि एक प्रबल जाति को किसी दुर्बल जाति ने हरा दिया है। प्राचीन युग में पारसियों श्रौर यूनानियों के संघर्ष में हमने यह बात देखी है। पारसियों ने जिस विपुल वाहिनी को लेकर यूनान पर आक्रमण किया था उसके सामने यूनानियों की मुट्ठी भर सेना का आँधी में घास-फूस की तरह उड़ जाना उचित था; किंतु ऐसा नहीं हुआ। जगत् के इतिहास में तब ऐसा समय आया था जब ईरानी सभ्यता को नीचे गिराकर यूनानी सभ्यता की प्रतिष्ठा करना आवश्यक था। इसी लिये कर्म-विधाताओं ने फारस के सिंहासन पर एक असमर्थ, आलसी, अकुशल राजा को बिठाया श्रौर उसके ईरानी सरदारों में कमजोर, डरपोंक श्रौर अनाड़ी आदमियों को उत्पन्न कर दिया। साथ ही साथ उधर यूनान में, थर्मापिली के पहाड़ी मार्ग में, पारसियों की सेना को रोकने के लिये तीन सौ दुर्दम वीरों को तैनात किया श्रौर सैलामी (Salamis) के जलयुद्ध में ईरानियों के बेड़े को छिन्न-भिन्न करने के लिये एथेंस (Athens) के नाविक-परिवार में कई एक सुदक्ष रण-नायकों को उत्पन्न कर दिया। मध्ययुग में स्पेन श्रौर इँगलैंड के 'आर्मेडा' (Armada)

संबंधी मामले में भी हम इसी नाटक का पुनरभिनय देखते हैं। हम इँगलैंड की रानी एलिज़बेथ के राजछत्र की छाया में अधृष्य वीरों को एकत्र देखते हैं और स्पेनीय आर्मेडा (Armada) की नौकाओं पर निकम्मे कायरों का उच्छृंखल रण-नृत्य देखते हैं। भारत-मुकुट के लिये मुगलों और मरहठों के अर्धशताब्दी-व्यापी संग्राम में भी यही सत्य देख पड़ता है। एक ओर शठ, धूर्त, प्रतारक के पैशाचिक षड्यंत्र का सहायक दुर्बल, दुर्वृत्त, अधम और अविश्वासी भृत्यमंडल है; दूसरी ओर स्वधर्मनिष्ठ, विश्वासपुष्ट, अक्लिष्टकर्मा शिवाजी महाराज और उनके अधीन, अनुरक्त, अदम्य अनुचर हैं। अजेय मुगल-सेना में इन निकम्मों को किसने भर्ती करा दिया? महा-राष्ट्र सेना-निवास में इन कृतकर्मा वीरों को अगुवा किसने बनाया? उन्हीं कर्म-विधाताओं ने*।

इस युग के रूस-जापान-युद्ध में भी हमें इसी सत्य के दर्शन मिलते हैं। उक्त युद्ध विराट् और बौने का युद्ध था। किंतु विराट् ही परास्त और पर्युदस्त हुआ था। युद्धकाल में देखा गया कि रूस की प्रकांड सेना नायक-हीन, बिना कर्णधार की

---

* सूक्ष्मदर्शी बंकिमचंद्र ने अपने 'राजसिंह' की भूमिका में इस विषय पर ध्यान दिया है और राजसिंह के विश्वस्त सेवक माणिकलाल की बगल में औरंगजेब के अविश्वासी उमरा मुबारक को चित्रित करके इस तथ्य को प्रस्फुट किया है।

नाव की तरह, सहज ही डूब गई। दूसरी ओर क्षुद्र जापान के घर घर में वीरों और गाँव गाँव में शूरों के दर्शन हुए।

ऐसे झगड़े-बखेड़ों के साथ हमारे पौराणिकों ने देवर्षि नारद का नाम जोड़ दिया है, मानो उनके मनबहलाव का सामान कलह ही है, विवाद ही उनका व्यसन है—फिर भी वे देवर्षि हैं! पहले पहल तो यह बेमेल जँचता है। किंतु जातीय कर्म का सामंजस्य यदि विधाता के विधान से विहित है, तो नारद जैसे निरपेक्ष 'पक्षपात-विनिर्मुक्त देवर्षि' के—जो राग-द्वेष और माया-मोह से बहुत दूर हैं, जिनके नजदीक भेदभाव की दाल ही नहीं गलती, जो पुण्य-पाप से बरी हैं, जिनकी दृष्टि में सुख-दुःख का तुल्य मूल्य है—जो आत्मरत, आत्मतृप्त हैं—जो आनंदध्वनि करते हुए, भगवान् का गुण-गान करते हुए, विश्व में भ्रमण किया करते हैं उनके—मंगल हस्त का जातिगत कर्म के इस सामंजस्य विधान और जातिगत ऋण के इस लेन-देन में नियोजित होना क्या विचित्र है? फलतः नारद का जो पौराणिक इतिवृत्त हमें मालूम है उससे यह समझना असंगत नहीं है कि वे भी इन कर्मविधाताओं में से एक हैं अथवा इनके मुखिया हैं।

नवम अध्याय

दैव और पुरुषकार

कर्मवाद की आलोचना करते समय हमारे मन में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि पिछले जन्म में किया हुआ कर्म ही यदि जीव के इस जन्म की जाति, आयु, भोग प्रभृति को नियमित करता है तो फिर मनुष्यजीवन में प्रयत्न और पौरुष का स्थान कहाँ रहा? मनुष्य भाग्य का प्रभु है या दास? वह प्रयत्न के द्वारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्था में कहाँ तक परिवर्तन कर सकता है? असल बात यह है कि क्या वह बिलकुल दैव के अधीन है या उसको कुछ स्वाधीनता प्राप्त है? इन प्रश्नों का ठीक उत्तर देने के लिये हमें पहले दैव और पौरुष की आलोचना करनी होगी।

दैव क्या चीज है? यूनानी लोग जिसे Fate या भाग्य कहते थे वही क्या दैव है? यूनानी पुराणों में देखा जाता है कि प्राचीन यूनानी लोग भाग्य की तीन तीन देवियाँ मानते थे। इनका नाम पार्कि (Parcæ) है। ये तीनों सगी बहनें हैं। बड़ी एट्रोपस (Atropos), मँझली लाकेसिस (Lachesis) और छोटी लोथो (Lotho) है। जन्म लेनेवाले के जन्म-समय की अधिष्ठात्री लोथो है। लाकेसिस जीवन-सूत्र की सूत्र-धारिणी और एट्रोपस मृत्यु की अधिष्ठात्री देवी है। यही निर्दिष्ट समय पर मनुष्य की जीवन-ग्रंथि को काट देती है। यूनानियों का विश्वास था कि मनुष्य के जितने भी सुख-दुःख, सुयोग-दुर्योग

और शुभाशुभ हैं उनको देनेवाली यही तीनों देवियाँ हैं। उन्हीं के विधान से सारा मानव-जीवन नियंत्रित होता है*।

यूनानी काव्य-नाटकों की छानबीन करने से ज्ञात होता है कि यह विश्वास यूनान के जातीय जीवन में किस प्रकार जड़ पकड़ गया था। युरिपाइडिस (Euripides), सफोक्लिस (Sophocles) प्रभृति की विश्वविख्यात नाटकावली में बतलाया गया है कि मनुष्य Fate या भाग्य के साथ संग्राम करके किस प्रकार निर्जित और निगृहीत होता है। यहूदियों में फैरिसी (Pharisee) और एसिनी (Essene) संप्रदाय विख्यात हैं। ये लोग किसी बात में मनुष्य की स्वाधीनता नहीं मानते थे। यह मुसलमानों की 'किसमत' से मिलती-जुलती बात है। जो लोग किसमत को मानते हैं उनकी राय में भूत, भविष्य और वर्तमान सभी पहले से निर्दिष्ट है। धाता के नित्य विधान से जो कुछ होनेवाला है वह पहले ही निश्चित हो चुका है। मनुष्य लाचार होकर उसी निर्दिष्ट मार्ग पर चलता है। हमारे देश में कोई कोई जो यह कहते हैं कि 'भवितव्यं भवत्येव' अर्थात् होनी को कोई टाल नहीं सकता, वह बात 'किसमत'

---

* Clotho, the youngest of the sisters, presided over the moments in which we are born and held a distaff in her hand, Lachesis spun out all the events and actions of our life, and Atropos, the eldest of the three, cut the thread of human life with a pair of scissors. They were the arbiters of the life and death of mankind and whatever good or evil befalls us in the world immediately proceeds from the Parcaes.—Lemprier's Classical Dictionary.

के ही ढंग की है। ईसाई जगत् में सबसे पहले सेंट आग-स्टाइन (St. Augustine) ने इस भवितव्यता या Predestination का प्रचार किया था। वे कहते थे कि जीव भवितव्यता का दास है। विधाता ने दिन के पहले हिस्से में ही निश्चित कर रखा है कि किस किसकी रक्षा होगी और कौन कौन नरक में जायगा। उस फेहरिस्त में तिल बराबर भी रद्दोबदल करने की गुंजाइश नहीं है। जिसके लिये नरक जाने की व्यवस्था हुई है वह किसी प्रकार बच नहीं सकता और जिसकी रक्षा होनी है उसकी रक्षा जरूर होगी। इस युग में ईसाइयों के बीच कैलविन (Calvin) ने उक्त भवितव्यता-वाद का समर्थन करके उसे दृढ़ किया था। वे कहते थे—"भाग्य ही प्रधान है; प्रयत्न या पौरुष बिलकुल बेकाम है*।" हमारे यहाँ भी ऐसी ही बात "भाग्यं

---

* The Greek Tragedians made it their business to exhibit the helplessness of man in his strife against fate. * * Among the Jews the Pharisees and Essenes left no place for human freedom.

In Islam El Burkevi states "It is necessary to confess that good and evil take place by the predestination and predetermination of God. All that has been and all that will be was decreed in eternity and written on the preserved table." * * * Orthodox Mahomedans believe that by the force of God's eternal decree man is constrained to act thus or thus.

The doctrine of Predestination was first formulated in the Church by Augustine. The Pelagian idea that man is competent to determine his own character, conduct and destiny was repugnant to him. * * Individuals

फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्'' है। तो क्या यह बात ठीक है?

दूसरी ओर पौरुषवादियों का कहना है—"भाग्य या अदृष्ट कोई चीज ही नहीं। प्रयत्न से मनुष्य चाहे जो कर सकता है। वह परिस्थिति का दास नहीं, प्रभु है। वह भाग्य का विधाता और अदृष्ट का नियामक है।" इस मत की प्रतिध्वनि करके कहा गया है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

अर्थात् 'उद्योगी प्रयत्नशील पुरुष को ही सौभाग्य-लक्ष्मी वरण करती है। भाग्य की दुहाई तो कायर लोग दिया करते हैं।' क्या यही मत ठीक है?

यदि यही बात ठीक है तो सबके प्रयत्न का फल एकसा क्यों नहीं होता? हम वहाँ की बात नहीं करते जहाँ पर प्रयत्न का तारतम्य है, शक्ति की न्यूनाधिकता है या इच्छाशक्ति की प्रबलता या दुर्बलता का प्रभेद है; किंतु जहाँ पर शक्तिशाली योग्य व्यक्ति तो जी-जान से प्रयत्न करके भी विफल हो रहा है और अधम, अयोग्य व्यक्ति बिना ही प्रयत्न के सफलता पर

---

are the objects of predestination— a certain fixed number, so certain that no one can be added to it or taken from it.

The theory of Calvin is Augustinian not only in its substance but in the methods and grounds by which it sustained.—Encyclopedia Britannica, 11th Edition (Article on Predestination).

सफलता पा रहा है, ऐसे दृष्टान्त क्या हम नहीं देखते हैं ? जीवन-युद्ध में कोई तो विजयी और कोई पराजित क्यों होता है ? यदि पौरुष ही प्रधान है तो इस समस्या का समाधान कैसे होगा ?

विष्णुपुराणकार ने प्रह्लाद के मुँह से यही प्रश्न कराया है—

न चिन्तयति को राज्यं को धनं नाभिवाञ्छति ।
तथापि भाग्यमेवैतत् उभयं प्राप्यते नरैः ॥
सर्वे एव महाभाग महत्त्वं प्रति सोद्यमाः ।
तथापि पुंसां भाग्यानि नोद्यमा भूतिहेतवः ॥
जडानामविवेकानामशूराणामपि प्रभो ।
भाग्यभोज्यानि राज्यानि सन्त्यनीतिमतामपि ॥

—विष्णुपुराण १ । १६ । ४३–४५

अर्थात् 'राज्य की इच्छा कौन नहीं करता, धन की इच्छा किसे नहीं है ? फिर भी जिसका जो भवितव्य है उसे वही मिलता है। बड़े आदमी बनने का उपाय सभी करते हैं, किंतु सभी की संपत्ति का हेतु भाग्य ही है, उद्यम नहीं। क्योंकि आलसी, डरपोक, बुद्धिहीन, दुर्नीतिपरायण व्यक्ति भी ऐश्वर्य के अधिकारी देख पड़ते हैं। अतएव मानना होगा कि ऐश्वर्य भाग्य का दान है, प्रयत्न का फल नहीं।'

याज्ञवल्क्य स्मृति से हमें इस प्रश्न का सदुत्तर मिलता है—

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता ।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदैहिकम् ॥ ३४७ ॥

केचिद्दैवाद्धठात्केचित्केचित्पुरुषकारतः ।
सिद्ध्यन्त्यर्था मनुष्याणां तेषां योनिस्तु पौरुषम् ॥ ३४८ ॥
यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३४९ ॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय ।

भाव यह है कि पुरुषकार से ही सब काम सिद्ध नहीं होते; उसके साथ पिछले जन्म का सुकृत भी होना चाहिए । जिस प्रकार एक पहिया लगा रहने से रथ नहीं चलता उसी प्रकार दैव की सहायता बिना पौरुष काम नहीं देता । नाव में पाल लगा देने से ही काम नहीं बन जाता, उसके अनुकूल हवा की भी जरूरत होती है । खेत में बीज बो देने से ही फसल नहीं खड़ी हो जाती, बरसात के पानी से उस बीज की सिंचाई भी होनी चाहिए । अतएव दैव और पौरुष दोनों की आवश्यकता है । भाग्यवादी का पौरुष को एकदम उड़ा देना ठीक नहीं है; और पौरुषवादी का दैव को एकदम अस्वीकार करना भी ठीक नहीं है । हमने समझ लिया कि इस दृष्टि से दैव का अर्थ किसमत या भाग्य नहीं है; दैव तो पिछले जन्म के किए हुए सुकृत या दुष्कृत से बना हुआ अदृष्ट है ।

जो लोग दैव को न मानकर पौरुष को ही सारा श्रेय दे डालना चाहते हैं उन्हें एक और समस्या का समाधान करना चाहिए । वह है जगत् में विषमता होने की समस्या । हम इस समस्या का उल्लेख पीछे कर आए हैं । हमने देख लिया

है कि जगत् में बेहद विषमता है; हम यह भी देख चुके हैं कि भोग, चरित्र और आचरण—सभी बातों में एक मनुष्य से दूसरे में बहुत अधिक विषमता है। कोई सुखी है कोई दुखी; कोई बुद्धिमान् है कोई बुद्धिहीन। कोई जन्म से ही संपत्ति की गोद में पला है, मानों अन्नपूर्णा अपनी सोने की टोकरी से उसके माथे पर सदा सोनचंपे की वर्षा किया करती हैं। और दूसरा जन्मान्ध, जन्मपंगु—सारी बाधाओं और व्याघातों की सौगात लेकर संसार के उत्सव में आया है। फिर भी ईश्वर पक्षपाती नहीं हैं। वे तो 'समोऽहं सर्वभूतेषु' हैं। अतएव यदि हम यह न मानें कि प्रत्येक जीव अपने कर्मफल के साथ जन्म लेता है और न्यायपरायण भगवान् जीव के उस कर्मफल के लिहाज से ही जगत् में इस विषमता को रहने देते हैं तो इस वैषम्य समस्या का कभी समाधान नहीं हो सकता।

वैषम्यनैघृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।

—ब्रह्मसूत्र २।१।३४

दूसरी ओर जो लोग 'किसमत' को मानते हैं और जो लोग सारे गोरखधन्धे को दैव के अधीन मानकर मनुष्य के पौरुष के प्रकट होने की कहीं गुंजाइश नहीं बताते उनके मत के विपक्ष में भी कुछ प्रबल युक्तियाँ खड़ी की जा सकती हैं। यदि हमारे सभी कर्म दैव के अधीन हैं, यदि पाप या पुण्य किसी विषय में हमें स्वाधीनता न हो, यदि भवितव्यता की बेड़ी पहने रहने के कारण जिसे चोरी करनी है वह चोरी करे और

जिसे हत्या करनी है वह हत्या करे, जिसे दान करना है वह दान दे और जिसे सच बोलना है वह सच बोले—तो फिर मनुष्य का दायित्व कहाँ रह गया ? अवश्यंभावी कार्य के लिये अब दायित्व क्या है ? क्योंकि जो भवितव्य है—विधाता के द्वारा विहित जो पाप-पुण्य, शुभाशुभ, हित-अहित और सुकृत-दुष्कृत है—उसे जब हजार सिर खपाने पर भी जीव बदल नहीं सकता तब कर्म के लिये उसे जिम्मेदार बनाना क्या अत्यंत अनुचित नहीं है ?

एक बात और है। दैव-वाद में पाप-पुण्य को जगह ही कहाँ पर है ? मनुष्य जिस काम को करता है वह यदि सोलहों आने दैवाधीन हो, यदि क्रियमाण कर्म के पक्ष में उसे किसी प्रकार की स्वाधीनता या स्वातंत्र्य न हो, तब तो मनुष्य इच्छाहीन निरा जड़ पदार्थ है, कठपुतली है। गरमी पहुँचाने से यदि आग को पुण्य न मिलता हो, लोहे को खींचने से यदि चुंबक को पाप न लगता हो तो इस मत से शुभ या अशुभ करनेवाले को भी पुण्य या पाप नहीं लग सकता।

शायद भाग्यवादी यह कहें, "जिस प्रकार आग में हाथ डालने से—इच्छा से हो चाहे अनिच्छा से—हाथ का जल जाना निश्चित है उसी प्रकार कर्म करते ही, जीव के लिए दायित्व हो चाहे न हो, उसका फल फले बिना नहीं रह सकता।" यह उत्तर ठीक नहीं है; क्योंकि जब हम 'कर्म की निवृत्ति' पर विचार करेंगे तब देखेंगे कि अनासक्त भाव से अहं-

कार को दूर करके ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म किया जाय तो वह कर्म फल नहीं देता।

एक बात और है। यदि हमारे मुख्य मुख्य कर्म दैव के अधीन या Predestined हों तो फिर अप्रधान कर्म दैव के अधीन क्यों न होंगे? इसी प्रकार छोटे बड़े सभी कर्म यदि दैव के अधीन या Predestined हों तो फिर 'क्रियमाण' कर्म कहाँ रहा? इस जीवन में हम जो जो कर्म करते हैं—इस मत की दृष्टि से—वे या तो निरे फल हैं या भोग। भोग का दुबारा भोग कैसा? 'क्रियमाण' कर्म यदि फल हो तो इसी जन्म में कर्म को निःशेष हो जाना चाहिए। क्योंकि जब उस कर्म से फल नहीं उत्पन्न होता तब उसके फलस्वरूप दूसरा जन्म क्योंकर होगा? अन्य जन्म का 'क्रियमाण' कर्म ही जब इस जन्म का 'प्रारब्ध' है; और यह प्रारब्ध जब इस प्रकार भोग द्वारा पूरा हो गया तब दूसरा जन्म देने लायक अंश कर्म में रही कहाँ गया? इस प्रसंग में एक किस्सा याद आ गया। एक बार चित्रकूट से लौटते समय रास्ते में एक बूढ़े नैपाली तांत्रिक से लेखक का परिचय हुआ। बातचीत से मालूम हुआ कि वे 'कारण और कामिनी' में भली भाँति आसक्त हैं। इसका तनिक नरम प्रतिवाद करने पर उन्होंने अपनी सफाई में कहा—"नैपाल तो भारत की सीमा से बाहर है। भारत कर्मभूमि है और नैपाल भोगभूमि। अतएव वे नैपाल में रहकर जो व्यभिचार करते हैं वह कर्म नहीं, भोग है। भोग का भोग नहीं होता। अतएव

नैपाल में किया गया पुण्य पुण्य ही नहीं है और वहाँ किया गया पाप भी पाप नहीं।" उक्त तांत्रिक के इस उत्तर से लेखक को संतोष तो नहीं हुआ; किंतु उसका सिद्धांत सत्य न होने पर भी 'उपनय' सर्वथा भ्रांत नहीं है। यदि सचमुच में कोई कर्म, कर्म न होकर, निरा भोग हो तो उस कर्म का फल किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ?

भाग्यवादी लोग इस आपत्ति का एक उत्तर देने की चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं "रबर का गेंद ऊपर उछाल देने से नीचे गिर पड़ता है। अब नीचे की चोट खाकर वह फिर ऊपर उछलेगा और फिर नीचे गिरेगा। इसे भी वैसा ही समझिए। कर्म का स्वभाव ही यह है। वह स्थिति-स्थापकताशील है। कर्म किया तो उसका फल कर्मात्मक भोग हुआ। इस भोग के फल से फिर कर्म और उसका भोग—यही सिलसिला जारी रहेगा।" इस पर कहना यह है कि रबर के गेंद का दृष्टांत ठीक उदाहरण नहीं है। क्योंकि गेंद जब पहले पहल फेंका जाता है तब वह एक कर्म जँचता है, भोग नहीं। कर्म के स्थान में किसी जन्म का कर्म पहले कर्म है या भोग ? इस जन्म में क्रियमाण कर्म ही यदि भोग हो जाय तो पिछले जन्म का क्रियमाण कर्म भी 'भोग' क्यों न होगा ? एक और बात है—रबर के गेंद का, दस पाँच बार गिरने और उछलने से, संस्कार (Momentum) पूरा हो जाता है; किंतु कर्म का तो आदि अंत नहीं है।

परंतु दैव-वादी के विपक्ष में इससे भी गुरुतर आपत्ति उठाई जाती है : यदि दैववाद सत्य हो, यदि क्रियमाण कर्म के संबंध में किसी प्रकार की स्वाधीनता न हो तो हम जिसे Conscience या यहाँ की बोली में 'विवेक' कहते हैं वह व्यर्थ हो जाता है। यह विवेक उचित-अनुचित विषय में सिर्फ उपदेश ही देकर नहीं रह जाता; बल्कि स्पष्ट अनुज्ञा देता है कि 'इस कर्त्तव्य को करो; इस अकर्तव्य को मत करो।' ज्योंही हम कोई पाप-कर्म करना चाहते हैं त्योंही हमारी हृदय-कंदरा से एक निषेधाज्ञा का (दार्शनिक-प्रवर कैंट जिसे Categorical Imperative कहते थे) प्रचार होता है। यदि हम इस वाणी के विरोध की परवा न करके काम कर डालते हैं तो इससे हमारी अंतरात्मा को प्रसन्नता नहीं होती। यदि क्रियमाण कर्म में हमें कोई स्वाधीनता नहीं है तो विधाता हमारी मनोगुहा में इस निषेध-वाणी को ध्वनित क्यों करते हैं? अतएव विवेक द्वारा उच्चारित अनुज्ञा को देखते हुए कहना पड़ता है कि क्रियमाण-कर्म के संबंध में हमें स्वाधीनता है। नहीं तो विवेक की यह अमोघ आदेशवाणी प्रचलित क्यों होती?

एक बात और भी। सभी जातियों के धर्मशास्त्र में, आज्ञा के रूप में, कुछ विधि-निषेधों का उपदेश देख पड़ता है। आर्य-ऋषियों के मत से चोदना-लक्षण धर्म है। चोदना का अर्थ है अनुज्ञा—जो कि संस्कृत भाषा में विधि लिङ् के प्रयोग द्वारा

सूचित होता है। 'सत्यं ब्रूयात्' सच बोले, 'मा हिंस्याः' हिंसा न करे, इत्यादि शास्त्र-आदेश का पालन करना यदि हमारे लिये बिलकुल असंभव होता तो शास्त्रकारगण कभी ऐसा उपदेश न देते। यदि कोई हमसे शेरनी का दूध ला देने के लिये कहे अथवा बिजली की चमक बुझा देने को कहे तो वह बकवास मात्र है। शास्त्र कभी बकवास नहीं करते। इसी लिये दार्शनिक कैंट की बोली में यों कह सकते हैं "Shall" implies "Can"। अतएव हम यह सिद्धांत स्थिर करने को बाध्य हैं कि शास्त्र में जो विधि-निषेध है वह हमारी पहुँच के बाहर की बात नहीं है। विधि को करने और निषेध को न करने का शक्ति-सामर्थ्य मनुष्य में है। यदि यह है तब मनुष्य का कर्म दैव के अधीन किस प्रकार हुआ?

हमें यह भी कहना है कि यदि मनुष्य के सभी कर्म दैव के अधीन होते, किसी विषय में स्वाधीनता न होती, तो शास्त्र में इतने कर्मकांड की व्यवस्था का क्या प्रयोजन था? वेद, पुराण, तंत्र और स्मृति-ग्रंथों में अधिकार-भेद से अनेक प्रकार के क्रिया-कलाप का विधान है किसलिये? इसी लिये न कि मनुष्य में अपनी अपनी रुचि-प्रवृत्ति के अनुसार इनमें से छाँट लेने का शक्ति-सामर्थ्य है। अतएव स्वीकार करना होगा कि क्रियमाण कर्म में हम स्वाधीन हैं। इसी लिये विवेक की वाणी और शास्त्रकारों के विधि-निषेध हैं; क्योंकि हम लोग ब्रह्मसिंधु के बिंदु हैं, उसी चिन्मय के चित्कण हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

—गीता, १५ । ७

अतएव जीवात्मा जब उस परमात्मा की आभा अथवा अंश है तब वह स्वभावतः स्वाधीन है। Free-will या स्वाधीन इच्छा पर उसका स्वयंसिद्ध अधिकार है। इस युक्तिहीन दैव-वाद को स्वीकार करके हम क्यों उस अधिकार को संकुचित करें और साथ ही साथ इस मत-वाद का प्रचार करके समाज में अकर्मण्यता, निश्चेष्टता और उदासीनता की संभावना को क्यों प्रश्रय दें?

अगले अध्याय में हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषियों द्वारा प्रचारित अदृष्ट-वाद में इस दैव और पौरुष का कैसा सुंदर समन्वय हुआ है।

दशम अध्याय

अदृष्ट-वाद

भाग्यवादी और पौरुष-वादी के विरुद्ध जो जो आपत्तियाँ की जा सकती हैं उनका कुछ कुछ उल्लेख हमने पिछले अध्याय में किया है। हमने देख लिया है कि अदृष्टवादियों के मत से क्रियमाण कार्य के कर्तृत्व विषय में मनुष्य को किसी प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त नहीं है। उन लोगों का कहना है कि मनुष्य जो भी पुण्य-पाप या सुकृत-दुष्कृत का अनुष्ठान करता है वह सभी दैवकृत है—उसके पिछले जन्मों में किए हुए कर्मों का अवश्यंभावी फल है। जो नर-घातक है वह भाग्य की अप्रतिविधेय प्रेरणा से नरहत्या रूप दुष्कर्म करता है। वह काम उसे अवश्य ही करना पड़ता है; हजार चेष्टा, लाख प्रयत्न करके भी वह उसमें उलट-फेर नहीं कर सकता। यही बात सुकर्म के संबंध में भी है। जो दूसरे का उपकार करता है वह परोपकार रूप सुकर्म को भाग्य की अप्रतिविधेय प्रेरणा से ही करता है। वह कर्म भी उसे करना ही होगा; किसी प्रकार की चेष्टा न करने पर भी, किसी उपाय के न रहने पर भी, वह इसमें विपर्यय नहीं कर सकता।

दूसरी ओर पौरुषवादियों की राय से मनुष्य को सभी बातों में स्वाधीनता प्राप्त है। वे कहते हैं, मनुष्य का जन्मांतर

हो तो हुआ करे, किंतु जन्मांतर में अनुष्ठित कर्म द्वारा उसका इस जन्म में अनुष्ठेय कर्म किसी तरह नियंत्रित नहीं होता। मनुष्य का भोगाभोग, सुख-दुःख, पाप-पुण्य सोलहों आने उसी के हाथ में है। वह चाहे तो पुण्य कर सकता है और पाप भी कर सकता है। वह किसी तरह परिस्थिति का दास नहीं है। दुःख, कष्ट और दुरवस्था सभी कुछ उसकी निश्चेष्टता और उद्यमहीनता का फल है। प्रयत्न, पौरुष और अध्यवसाय करने से सभी लोग सुख-संपत्ति और भोग-ऐश्वर्य के अधिकारी हो सकते हैं। असल बात यह है कि मनुष्य की दशा उसकी चेष्टा के वश में है, इच्छा-सापेक्ष है। इस मत का पोषण करके इँगलैंड के राजकवि टेनिसन ने कहा है—"Man is man and master of his fate"। हम देख चुके हैं कि इन दोनों मतों में से कोई भी मत युक्तिसंगत नहीं है। हमने यह भी देख लिया है कि दैव-वाद सत्य हो तो मनुष्य-जीवन से सब प्रकार के उद्योगों और प्रयत्नों को हटा देना होगा; क्योंकि यह सभी मिथ्या ज्ञान की विडंबना मात्र है।

अब हम अदृष्ट-वाद की आलोचना करेंगे। आशा है, उस आलोचना से यह प्रतिपन्न होगा कि इस मत-वाद से अदृष्ट-वाद और पौरुष-वाद में जो सत्यांश था वह ले लिया गया और जो भ्रमांश था वह निकाल दिया गया। वास्तव में इस अदृष्ट-वाद में दैव और पौरुष का सुंदर समन्वय हुआ है।

पहले तो हमारे लक्ष्य करने का विषय यह है कि अदृष्ट-वादी कर्म के अतिरिक्त किसी प्रकार के दैव को नहीं मानते। वे कहते हैं—

कल्पितं मोहितैर्मन्दैर्दैवं किञ्चिन्न विद्यते।

—योगवाशिष्ठ, मुमुक्षु प्रकरण, ४। १०

अर्थात् 'वास्तव में दैव तो कुछ नहीं। बुद्धिहीन मंदमति लोगों ने दैव की कल्पना कर ली है'; जिस प्रकार कि प्राचीन यूनानियों ने अदृष्ट की तीन देवियों की कल्पना कर ली थी। इस संबंध में योगवाशिष्ठ में और भी दृढ़ता के साथ कहा गया है—

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामञ्च नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥

—वही, मुमुक्षु प्रकरण, ७। २

दैवं संप्रेरयति मां इति दग्धधियां सुखम्।
अदृष्टश्रैष्ठ्यबुद्धीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते॥

—वही ५। २०

अर्थात् 'जो लोग प्रयत्न न करके भाग्य-भरोसे बैठे रहते हैं वही आत्मद्वेष्टा लोग धर्म, अर्थ और काम सब कुछ नष्ट कर डालते हैं। पौरुष को व्यर्थ समझकर दैव को ही सार समझ जो लोग उसी को श्रेष्ठ मानते हैं उन दग्ध-बुद्धि लोगों का मुँह देखकर लक्ष्मी लौट जाती है।' वास्तव में देखा जाय तो दैव पौरुष का ही नामांतर है। पिछले जन्म का किया हुआ पौरुष ही इस जन्म में दैवरूप से प्रकाशित होता है—

प्राक्तनं पौरुषं यत्तद् दैवशब्देन कथ्यते ।

—योग वा० मुमुक्षु० ६ । ३५

प्राक्तनं चैहिकं चेति द्विविधं विद्धि पौरुषम् ॥

—वही मुमुक्षु० ४ । १६

'पौरुष दो प्रकार का है—प्राक्तन और अद्यतन—आमुष्मिक और ऐहिक—पिछले जन्म का किया हुआ और इस जन्म में किया हुआ।' इस प्रकार समझने पर दैव एक सर्वनाशी विभीषिका के रूप में न जँचेगा; ऐसा न मालूम होगा कि एक बाहरी शक्ति निर्मम निष्ठुर भाव से हमें पीस रही है। हम समझेंगे कि दैव की बेड़ी हमारी ही बनाई हुई है और आत्मकृत बाधा को हम उपयुक्त उपाय से काट सकते हैं* ।

इसी लिये कहा गया है कि कार्यसिद्धि के लिये दैव और पौरुष दोनों की ही आवश्यकता है ।

दैवे पुरुषकारे च कार्यसिद्धिर्व्यवस्थिता ।

याज्ञवल्क्यस्मृति से एक पहियेवाले रथ की जो उपमा हम पिछले अध्याय में उद्धृत कर आए हैं उसका पाठकों को स्मरण होगा ही। एक डाँड़ से भला नाव चल सकती है ?

---

* इसी की प्रतिध्वनि करके एक स्थान पर सर एडविन आर्नल्ड ने लिखा है—

Ho ! Ye who suffer know
Ye suffer from yourselves
None else compels

अर्थात् Karma [is not destiny imposed from without but a self-made destiny.

दोनों ओर कम से कम दो डाँड़ तो हों। इसी तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये श्री स्वामी भोलानंद गिरि एक किस्सा कहा करते थे। एक आदमी के बाग में आम का ऐसा पेड़ था जिसमें बढ़िया मीठे फल फलते थे। किंतु मालियों के विश्वासघात के मारे बाग के मालिक को उसके फल खाने को न मिलते थे। लाचार होकर उन्होंने सभी पुराने आदमियों को निकाल दिया। और बगीचे की रखवाली एक अंधे और एक लँगड़े को सौंप दी। उन्हें आशा थी कि फलों पर अंधे की नजर न पड़ेगी, इससे वह फल न हथियावेगा और लँगड़ा उन्हें देख तो लेगा पर पेड़ के पास तक न पहुँच सकेगा। कुछ दिन इसी तरह बीते किंतु जब अंधे और लँगड़े ने हिकमत से एक की आँखों और दूसरे के चरणों का संयोग कर दिया तब से फिर किसी को उन फलों के दर्शन न हुए। दैव और पुरुषकार को ऐसा ही समझिए। एक की सहायता के बिना दूसरे की कार्यसिद्धि होना कठिन है*।

---

* स्वामी जी के एक शिष्य ने 'महापुरुषवाणी' नाम से उनके उपदेशों का जो संग्रह किया है उसमें, इस संबंध में, स्वामीजी का मत साफ देख पड़ता है। वे कहते हैं—दैव और पौरुष दोनों ही चाहिए; किन्तु प्रधान पौरुष ही है। देखो हमारे दैव अथवा प्रारब्ध में लिखा है कि तुम्हारे यहाँ से भोजन मिलेगा। तुमने यदि हमारे सामने थाली परोसकर रख दी या मुँह में कौर रख दिया तो यहीं पर दैव का काम हो गया। अब पौरुष—चबाने और निगलने—की आवश्यकता है; नहीं तो दैव भोग को पूरा नहीं कर सकता।

दैव पर अत्यधिक भरोसा करके मनुष्य कहीं पौरुष की अवहेलना न कर बैठे, इसी लिये वशिष्ठदेव ने रामचंद्रजी को उपदेश दिया है—

पौरुषं सर्वकार्याणां कर्तृ राघव नेतरत्।
फलभोक्तृ च सर्वत्र न दैवं तत्र कारणम्॥

योग वा० मुमुक्षु० ६। २

'पौरुष ही सर्वत्र कार्य का कर्ता और भोक्ता है, दैव कारण नहीं है।' यह उपदेश बहुत ठीक है; क्योंकि हम देख चुके हैं कि जिसे हम दैव कहते हैं वह प्राक्तन पौरुष के सिवा और कुछ नहीं है।

कर्म के विपाक की आलोचना करते समय हमने देख लिया है कि संचित कर्म के फल से हमारी प्रकृति या चरित्र गठित होता है और प्रारब्ध कर्म के फल से हमारी जाति, आयु और भोग प्रभृति पारिपार्श्विक अवस्था नियमित होती है। अब प्रश्न यह है कि इन कर्मफलों का (जिन्हें अदृष्ट कहा जाता है) पौरुष या प्रयत्न द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है या नहीं?

शिष्य—यह तो अनुकूल दैव की बात हुई; प्रतिकूल दैव के स्थान पर पौरुष दैव को कैसे रोक सकता है?

स्वामीजी—जरूर रोक सकता है।

शिष्य—तो क्या दैव और पौरुष एक ही चीज हुई? पिछले जन्म का किया हुआ पौरुष क्या इस जन्म में दैव है?

स्वामीजी—हाँ, यही बात है।

—महापुरुषवाणी।

पहले, संचित का फल है—जिसके द्वारा हमारा स्वभाव अथवा प्रकृति गठित हुई है। यों समझिए कि संचित के फल से एक व्यक्ति पापी चित्त, मलिन बुद्धि और दुर्बल चिंतन शक्ति लेकर उत्पन्न हुआ है। किसी काम में उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। दुर्वासना के मारे उसके चित्त में सदा उथल-पथल मची रहती है। कठिन काम में तो उसकी अकल काम ही नहीं देती। अपने इस स्वभाव को क्या वह प्रयत्न द्वारा बदल नहीं सकता? हम कहते हैं कि वह अपने स्वभाव को सुधार सकता है; क्योंकि हम जिसे स्वभाव कहते हैं वह कुछ अभ्यासों (Bundle of Habits) का समुदाय ही तो है।

हम बार बार जो चिंतन, वासना और चेष्टना का अनुष्ठान करते हैं वही अभ्यास में परिपक्व होता है और इस अभ्यास-समुच्चय से हमारा स्वभाव गठित होता है। व्यासजी का वचन है—

चित्तनदी उभयतः वाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय।

इस चित्त के प्रवाह को यदि हम पाप की खाड़ी से बचाकर कल्याण की खाड़ी की ओर प्रवाहित करें तो कुअभ्यास के स्थान पर सुअभ्यास की प्रतिष्ठा होगी और थोड़ा बहुत सुअभ्यास संचित होकर हमारी प्रकृति में परिवर्तन कर देगा।

अपने शरीरगत 'अभ्यास की जाँच पड़ताल करने से इस विषय का दृष्टांत मिल जायगा। हमें ऐसी लत पड़ गई है

कि हम सबेरे नहीं उठ सकते। सबेरे उठने का हमें अभ्यास ही नहीं। अथवा हमें अंगों के चलाने की आदत है—तनिक चित्त हटते ही हम, बिना ही इच्छा किए, पैर नचाने लगते हैं। किंतु यदि हम दृढ़ता और धैर्य के साथ कई दिन तक तड़के उठने का अभ्यास करें और कुछ दिन अंग-संचालन को रोकने का यत्न करें तो ये सब लतें सहज ही छूट जायँ।—जस जस परै व्यवस्था, तस तस सहै शरीर।

विज्ञान की भाषा में इसे शरीर का Automatism कहते हैं। शरीर की इस स्वतः-प्रवणता का सुयोग लेकर हम शारीरिक अभ्यास में परिवर्तन कर सकते हैं। जिसे हम चित्त या मन कहते हैं वह भी हमारा शरीर है—स्थूल नहीं, सूक्ष्म शरीर है। इस शरीर की भी Automatism या स्वतः-प्रवणता है। इस सुयोग का उपयोग करके हम प्रयत्न द्वारा चित्तगत अभ्यास में भी परिवर्तन कर सकते हैं। जिस प्रकार सोने को गला देने पर वर्तमान गहने का रूप बदल दिया जाता है उसी प्रकार ठीक उपाय के सहारे प्रकृति में भी परिवर्तन किया जा सकता है। इस संबंध में लघुयोगवाशिष्ठ में थोड़े से सुंदर उपदेश हैं। यहाँ हम उन्हें उद्धृत करते हैं—

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय।
स्वमनः पुरुषार्थेण बलेन बलिनां वर॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहंती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥

वशिष्ठजी कहते हैं—

'अशुभ में निविष्ट मन को पौरुष द्वारा शुभ में लगाओ। वासना नदी शुभाशुभ दोनों ही मार्गों से बह रही है; पौरुष और प्रयत्न करके उसे शुभ मार्ग पर स्थिर करो।' इस प्रकार जब चित्त-नदी पाप की खाड़ी को छोड़कर कल्याण की खाड़ी की ओर बहने लगेगी तब बुरे विचार, दुर्वासना और बुरी लतें परिवर्तित हो जाने से हमारी प्रकृति स्वच्छ, सबल और सुंदर होने लगेगी।*

संचित कर्म के फलस्वरूप जिस प्रकृति और स्वभाव को लेकर हम जन्म ग्रहण करते हैं उस स्वभाव का परिवर्तन, प्रयत्न और पौरुष से, किया जा सकता है या नहीं—इस पर यहाँ तक विचार किया गया। इससे हमने समझ लिया कि हम स्वभाव

---

* इस संबंध में श्रीमती एनी बेसंट ने अपने Ancient Wisdom ग्रंथ में कुछ तत्वपूर्ण बातें लिखी हैं। यहाँ हम उन्हें उद्धृत करते हैं।

We are continually making habits by the repetition of purposive actions guided by the will; then the habit becomes a limitation, and we perform the action automatically. Perhaps we are then driven to the conclusion that the habit is a bad one, and we begin laboriously to unmake it by thoughts of the opposite kind; after many inevitable lapses into it, the new thought-current turns the stream, and we regain our freedom, often again to gradually make another fetter. So old thought-forms persist and limit our thinking capacity, showing as individual and as national prejudices. The majority do not know that they are thus limited, and go on serenely in their chains, ignorant of their bondage; those who learn the truth about their own nature become free.

की जिस मलिनता या दुर्बलता और दीनता को लेकर उत्पन्न होते हैं वह हमारी ही अर्जित है; उपाय करने से उसमें सुधार हो सकता है। अपने प्रकृतिरूप जिस कोष में हम इस जन्म में आबद्ध हुए हैं उस कोष के कर्ता हमीं हैं और पौरुष के द्वारा हम उस कोष का छेदन-भेदन कर सकते हैं*। इस संबंध में सर एडविन आर्नल्ड ने 'हितोपदेश' के एक श्लोक का जो मर्मानुवाद किया है वह हमारे ध्यान देने योग्य है।

Look ! the clay dries into iron,
But the potter moulds the clay ;
Destiny to-day is master—
Man was master yesterday.

हम देख चुके हैं कि प्रारब्ध के फल से हमारी जाति, आयु और भोग नियमित होता है। असल बात यह है कि मनुष्य की पारिपार्श्विक अवस्था (Environment) प्रारब्ध द्वारा निर्दिष्ट होती है। अब हमें यह देखना है कि प्रारब्ध का फल परिवर्तित किया जा सकता है या नहीं।

पहले हमें इसकी छानबीन करनी है कि प्रारब्ध क्या जीव के क्रियमाण कर्म का नियामक है? अर्थात् क्रियमाण कर्म के संबंध में मनुष्य कहाँ तक स्वाधीन है? पिछले अध्याय में

---

* The chains that bind him are of his own forging, and he can file them away or rivet them more strongly ; the house he lives in is of his own building, and he can improve it, let it deteriorate or rebuild it, as he will—Ancient Wisdom, p. 327.

हमने यह चर्चा छेड़ी थी। हम देख चुके हैं कि मनुष्य में स्वाधीन इच्छा (Free-will) है। इसी लिये तो हम पाप-पुण्य के लिये जिम्मेदार हैं; इसी से तो हम क्रियमाण सुकृत के द्वारा संचित दुष्कृत का और क्रियमाण दुष्कृत के द्वारा संचित सुकृत का नियमन कर सकते हैं। जिस प्रकार गति-विज्ञान में, एक शक्ति एक तरह से फैलकर किसी ओर बढ़ती हुई देख पड़ती है; और विपरीत रूप से भिन्न शक्ति का उसके सामने प्रयोग करके हम प्रथमोक्त शक्ति की गति को रोक सकते हैं, इसी तरह अध्यात्म जगत् में भी क्रियमाण सुकृत-दुष्कृत का प्रयोग करके संचित दुष्कृत-सुकृत का निरोध करना असंभव नहीं है। यही तो ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म को भस्म करना है। ज्ञानी पुरुष युक्ति से कर्म का ठीक ठीक प्रयोग करके संचित कर्म के फलाफल का निरोध कर सकते हैं।

कोई कोई कौषीतकी ब्राह्मण की निम्नोक्त श्रुति का अवलंबन करके मनुष्य के कर्म-स्वातंत्र्य को स्वीकार नहीं करते। उनके मत से मनुष्य प्रत्येक सत् या असत् कर्म को ईश्वर की प्रेरणा से करता है—इसमें उसकी कोई स्वतंत्र अभिरुचि नहीं रहती। श्रुति यह है—

एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यं एभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।

अर्थात् ईश्वर जिसे इस लोक से ऊपर ले जाना चाहते हैं उससे अच्छे काम कराते हैं और जिसे नीचे पटकना चाहते हैं

उससे बुरे काम कराते हैं। किंतु श्रीशंकराचार्य ने इसका अर्थ कुछ और ही समझा है। उनका किया हुआ अर्थ ही ठीक जान पड़ता है। वे कहते हैं—"ईश्वर पक्षपाती नहीं है। वह जीव के धर्माधर्म की अपेक्षा करके जीव के पाप-पुण्य के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम यों त्रिविध अवस्था का प्रबंध करता है।" इस मत का समर्थन करने के लिये उन्होंने उक्त श्रुति को उद्धृत किया है। इस विषय में ब्रह्मसूत्र के २।१।३४ सूत्र का भाष्य द्रष्टव्य है। अतएव हम कहना चाहते हैं कि क्रियमाण कर्म के संबंध में हमें स्वाधीनता है।

इस क्रियमाण कर्म के अनुष्ठान-सामर्थ्य को पुरुषकार कहते हैं। साधारण जीवों में यह पुरुषकार बहुत ही दुर्बल रहता है। साधारण जीव प्रायः अदृष्ट के अधीन हैं; किंतु जीव जितना ही उन्नति के मार्ग पर बढ़ता जाता है उतना ही उसके पुरुषकार का परिमाण बढ़ता जाता है; उतना ही उसके अदृष्ट का बंधन ढीला पड़ता जाता है। अंत में उसके पुरुषकार की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह आसानी से सारे कर्म-पाश को काट सकता है; अदृष्ट के बंधन से बिलकुल स्वाधीन होकर ज्ञानाग्नि का ठीक-ठीक प्रयोग करके सारे कर्म-बीज को दग्ध करने में समर्थ हो जाता है।

इस प्रसंग में पंचदशीकार ने, तृप्तिदीप में, एक बात कही है। उसका हमें स्मरण करना चाहिए—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।

तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥

इस श्लोक में पंचदशीकार ने दैव की प्रधानता घोषित की है। "यदि भवितव्यता खंडित की जा सकती तो नल, राम, युधिष्ठिर, प्रभृति कभी दुःख न भोगते।" वे तो उन्नत पुरुष थे, कोई कोई दिव्य पुरुष थे। उनका पुरुषकार तो खासा प्रबल था; फिर वे दुःख को क्यों नहीं दूर कर सके ? इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुष के कर्मक्षय को लक्ष्य करके वेदांतसूत्र में कहा है—

भोगेन तु इतरे क्षपयित्वा—४ । १ । १०

भाव यह है कि वे लोग भोग द्वारा प्रारब्ध का नाश कर देते हैं और बहुत जल्दी कर्म का नाश कर डालने के लिये समय समय पर "कायव्यूह" की रचना करते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि शक्तिशाली जीवन्मुक्त पुरुष इच्छा करने से ही प्रारब्ध में परिवर्तन नहीं कर सकते। किंतु वे ऐसा नहीं करते; क्योंकि उनके लिये जब सुख-दुःख दोनों एक से हैं, सुभोग-दुर्भोग का कोई भेद नहीं है, तब वे क्रियमाण कर्म के द्वारा प्रारब्ध का विरोध करने के लिये शक्ति को फिजूल खर्च नहीं करते। हाँ, चाहें तो कर अवश्य सकते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि जो लोग जीवन्मुक्तों की अपेक्षा बहुत ही छोटे साधक हैं (जैसे विश्वामित्र, ध्रुव, सावित्री) उन्होंने

भी ऐसा कर लिया था। प्रयत्न और पौरुष के द्वारा प्रबल दैव का उन्होंने खंडन किया था।

अतएव जीव के क्रियमाण कर्म के स्थान में हम साधारणतः दो विरोधी शक्तियों—दैव और पुरुषकार—का संग्राम देखते हैं। योगवाशिष्ठकार ने इस संग्राम की तुलना भेड़े के युद्ध के साथ की है। दो प्रतियोगी भेड़ों के बीच जो सबल होता है वही दूसरे को परास्त करके प्रभुत्व स्थापित करता है। कभी एक जीत जाता है, कभी दूसरा। यह तुलना बहुत ठीक है। दैव और पुरुषकार का युद्ध इससे बढ़कर स्पष्ट रीति से नहीं समझाया जा सकता।

> द्वौ हुडाविव युद्ध्येते पुरुषार्थौ समासमौ।
> प्राक्तनैश्चैहिकैश्चैव शाम्यत्यत्रातिवीर्यवान्॥
>
> —योगवाशिष्ठ, मुमुक्षु, ४। ५
>
> द्वौ हुडाविव युद्ध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।
> य एव बलवांस्तत्र स एव जयति क्षणात्॥ वही ,, ६। १०
>
> ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोद्यतनं बलात्। वही ,, ६। १०

'कभी तो ऐहिक प्राक्तन को पछाड़ता है और कभी प्राक्तन से स्वयं पछड़ जाता है।'

अतएव स्पष्ट हो गया कि योगवाशिष्ठ के मत से क्रियमाण कर्म के द्वारा प्रारब्ध परिवर्तित हो सकता है। योगवाशिष्ठ में और भी कहा गया है—

दैवं पुरुषकारेण यो निवर्तितुमिच्छति ।

इह वामुत्र जगति स संपूर्णाभिवाञ्छितः ॥

—योगवा०, मुमुक्षु, ७ । २

ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ।

तथैवं प्राक्तनी तस्मात् यत्नात् सत्कार्यवान् भवेत् ॥

वही ,, ८ । ४

अर्थात् जन्मांतरीण दुष्कृत-जनित दुर्भाग्य का नियमन इस जन्म में किए हुए सुकृत से हो सकता है। इससे यह ज्ञात हुआ कि यदि प्रारब्ध के संबंध में हम ऐहिक पौरुष का प्रयोग न करते तो उसका फल अमिट हो जाता। यदि हम इस जन्म में पौरुष का प्रयोग करके नई शक्ति का सन्निवेश न करते और उस शक्ति के द्वारा पूर्व जन्म में प्रवर्तित शक्ति को न रोकते तो जन्मांतर में हमने जिस शक्ति का मोक्षण किया है उसका फल अवश्यंभावी हो जाता। जब कि हमारी इच्छा स्वाधीन है तब हम सदैव नई शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं और अनेक स्थानों पर करते भी हैं। कर्म-देवताओं की कार्यावली की छान-बीन करते समय हम देख चुके हैं कि समय समय पर प्रारब्ध के विगुण होने पर भी हमारी प्रयोग की हुई इस नई शक्ति को रोकने के लिये कर्म-देवताओं का हस्तक्षेप आवश्यक होता है। अतएव इस संबंध में यहाँ पर अधिक विचार न किया जायगा।

गति-विज्ञान के एक और नियम का यहाँ पर हमें स्मरण करना होगा। किसी शक्ति की क्रिया को रोकने के लिये

जिस Plane या भूमिका में वह शक्ति आपतित होती है उसी Plane या भूमिका में विरोधी शक्ति का प्रयोग करना होगा, अर्थात् उपयोगी उपाय (Appropriate means) का सहारा लेना होगा। पाप के फल से दुःख मिलता है, उसे दूर करने के लिये पुण्य का संचय करना होगा। जिसका अनिष्ट किया है, उसका प्रतीकार करने के लिये, उसी का इष्ट करना होगा। इस प्रकार कर्म-विधान का प्रतिविधान किया जाता है।

इसी लिये आयुर्वेद में व्याधि का भेद 'दोषज' और 'कर्मज' दिखलाया गया है। कफ, वात और पित्त की विषमता या दोष से जो रोग उत्पन्न होता है उसका प्रतिकार औषधि करने से हो जाता है; किंतु जो व्याधि 'कर्मज' है अर्थात् पिछले जन्म की दुष्कृति से उपजी है उसका इलाज करने में 'सहस्र-मारी' चिकित्सक का सारा प्रयत्न विफल हो जाता है।

एक पुराना किस्सा है कि एक आदमी के लड़के की जन्म-पत्री में उसके पानी में डूब मरने का उल्लेख था। उसके बाप ने बहुत ही सावधानी करके इस दैवनिर्दिष्ट घटना से उसे बचा लेने का उपाय किया था। किंतु एक दिन किसी अतर्कित छिद्र में होकर वही दैव जल के रूप में देख पड़ा और उसने उस लड़के को डुबा दिया।

यहाँ पर उस लड़के के बाप ने ठीक उपाय से काम नहीं लिया; जिस भूमिका में विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना चाहिए था उस भूमिका में अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं किया।

उन्होंने भौतिक उपाय से नैतिक विधान का भी प्रतिविधान करना चाहा था। इसी से उनका उपाय निष्फल हो गया था। किंतु विश्वामित्र, साविन्त्री और ध्रुव आदि ने यथोचित उपाय (Appropriate means) का सहारा लेकर अदृष्ट के विधान को व्यर्थ कर दिया था। अब हम इन्हीं तीनों व्यक्तियों की कथा पर विचार करेंगे और देखेंगे कि इन तीनों ने ही क्रियमाण कर्म द्वारा यथाक्रम प्रारब्ध-जनित जाति, आयु और भोग में परिवर्तन कर दिया था।

रामायण के बालकांड में विश्वामित्र का पिछला विवरण मिलता है। विश्वामित्र युवावस्था में प्रतापी क्षत्रिय राजा थे। बड़े ही धर्मात्मा थे; यथासाध्य अपनी प्रजा का भला किया करते थे—

> राजासीद् एष धर्मात्मा दीर्घकालमरिंदमः।
> धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः॥
>
> —बालकांड ५१। १७

एक बार अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर वे देश-विदेश की यात्रा करने निकले और अनेक जनपद, नदी, नद, पहाड़, जंगल आदि की सैर करते हुए अंत में वशिष्ठजी के पुष्प-लता-कीर्ण, पक्षि-कूजित, मृग-सेवित, शांतरसास्पद आश्रम में पहुँचे। वशिष्ठजी ने विश्वामित्र की सादर अभ्यर्थना करके उनसे आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध किया। पहले तो विश्वामित्र ने यह आशंका करके आतिथ्य ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया

कि इतनी विपुल जनता के खाने-पीने का प्रबंध गरीब ऋषि कहाँ से करेंगे, किंतु वशिष्ठ के आग्रह करने पर वे राजी हो गए। अब वशिष्ठ ने अपनी कबरी होमधेनु शवला को बुलाया। शवला ने उसी घड़ी अपनी देह से विविध और विचित्र—अधिक परिमाण में—खाद्य वस्तुएँ उत्पन्न कर दीं। शवला की यह अद्‌भुत लीला देखकर विश्वामित्र ने वशिष्ठ से कहा—"रत्न तो राजा के ही यहाँ चाहिए, अतएव यह धेनुरत्न आप मुझे दे दें। इसके एवज में आप जितना धन, रत्न, वित्त, पशु आदि चाहें, ले लें।" किंतु वशिष्ठ ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया कि किसी भी वस्तु के विनिमय में शवला नहीं दी जा सकती—

नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम्।
राजन् दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा॥

—बालकांड, ५३। ३२

तब क्षत्रिय विश्वामित्र ने क्षत्रिय-धर्म को भुलाकर बलपूर्वक शबला को हरण कर लिया और अपने सिपाहियों की सहायता से वे उसे घसीटकर ले चले। अब शबला ने वशिष्ठ की अनुमति पाकर अपने शरीर से अनेक प्रकार के अस्त्रधारी वीरों को उत्पन्न किया। इन वीरों के बाहुबल से विश्वामित्र के सैनिक हार गए। अब विश्वामित्र राजा तरंग-हीन समुद्र, राहु-ग्रस्त सूर्य और तोड़े गए दाँतवाले साँप की तरह प्रभा-हीन हो गए—

समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः॥

—बालकांड, ५५। ६

आश्रम से निकलकर, दिव्य अस्त्र प्राप्त करने के लिये, वे हिमालय के वन में जाकर कठोर तपस्या करने लगे। समय पर उनकी साधना सिद्ध हुई। दिव्य अस्त्र पाकर वे फिर वशिष्ठ के आश्रम में आए और उस अस्त्राग्नि से ऋषि के तपोवन को भस्म करने लगे—

यैस्तत्तपोवनं नाम निर्दग्धं चास्त्रतेजसा।

विश्वामित्र के आचरण से क्रुद्ध होकर वशिष्ठ ने बिना धुएँ के कालाग्नि की भाँति अपना दंड उठाया। तब प्रबल जलधारा से जिस प्रकार सहज ही आग बुझ जाती है उसी प्रकार वशिष्ठ के दंड से विश्वामित्र का सारा अस्त्रानल शांत हो गया। इससे झेंपकर विश्वामित्र कहने लगे—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदंडेण सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

—बालकांड ५६। २३

विश्वामित्र ने अब दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं इस क्षत्रियत्व को हटाकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा। अब ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिये वे कठोर तपस्या करने लगे। धीरे धीरे उन्हें राजर्षि पद मिला। इतने पर भी समय समय पर उन्हें काम और क्रोध का वेग आंदोलित करने लगा। तब विश्वामित्र अपनी

रज:प्रधान प्रकृति को शुद्ध करके सत्त्वप्रधान बनाने के लिये प्राणपण से चेष्टा करने लगे—

अहं हि शोषयिष्यामि आत्मानं विजितेन्द्रियः।
तावत् यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम्॥

—बालकांड ६४। १८

विश्वामित्र ने जो कहा वही कर दिखाया। तपस्या की आग में उनका सारा चित्त-मल शुद्ध हो गया। उनकी परीक्षा करने के लिये देवताओं ने काम, क्रोध और लोभ के बहुत सामान जुटाए; किंतु विश्वामित्र तिल भर भी विचलित नहीं हुए—

न ह्यस्य वृजिनं किञ्चित् दृश्यते सूक्ष्ममप्युत।

तब देवताओं ने उनका अभिनंदन करके कहा—ब्रह्मर्षे, तुम्हारी साधना सिद्ध हो गई, तुमने कठोर तप करके ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया, तुम दीर्घ आयु ग्रहण करो।

ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक!

यही विश्वामित्र का पुराणवर्णित पिछला चरित है। इस कहानी से पता चलता है कि क्षत्रिय विश्वामित्र ने पौरुष करके, उसी जन्म में अपनी जाति बदलकर, ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था। अतएव स्पष्ट हो गया कि पुरुषकार का प्रयोग करने से प्रारब्ध-निर्दिष्ट जाति में परिवर्तन किया जा सकता है। यह जाति-परिवर्तन करने के लिये उन्हें कई वर्ष तक परिश्रम करना पड़ा था; अनेक साधन, संयम और तपस्या का अनुष्ठान करना

पड़ा था। कारण यह है कि "प्रकृति दुस्त्यज है।" विश्वा-मित्र के शबला-संबंधी और मेनका-संबंधी आचरण से हमको ज्ञात होता है कि उनकी प्रकृति विशेष रूप से रजोनुविद्ध थी। उस प्रकृति को तोड़-मरोड़कर रजोलेशहीन और सत्त्वप्रधान ब्राह्मण-प्रकृति में परिणत करने के लिये बहुत प्रयत्न और तैयारी की आवश्यकता थी।

अब हम महाभारत में वर्णित सावित्री के आख्यान पर विचार करेंगे और देखेंगे कि एक वर्ष के व्रतानुष्ठान से बुद्धि-मती सावित्री ने सत्यवान् की प्रारब्ध-निर्दिष्ट आयु को किस प्रकार बढ़ा लिया था।

मद्रराज अश्वपति के, सावित्री देवी की उपासना करने से, एक तपस्विनी कन्या उत्पन्न हुई। यही जगत्प्रसिद्ध पातिव्रत्य की आदर्श-स्वरूप सावित्री है। धीरे धीरे सावित्री विवाह के योग्य हुई। किंतु उस सुवर्ण-प्रतिमा का तेजोदीप्त रूप देख-कर किसी को यह हिम्मत न हुई कि उसके साथ विवाह करे—

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा।
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः॥

—वनपर्व २९४। २८

तब निरुपाय होकर अश्वपति ने कन्या को आज्ञा दी—"अपने योग्य पति तुम स्वयं ढूँढ़ लो।" उन्होंने बूढ़े मंत्रियों को साथ में देकर उसे देश-भ्रमण करने को भेज दिया। सावित्री ने एक तपोवन में वनवासी, राज्यभ्रष्ट, द्युम-

त्सेन के पुत्र सत्यवान् को देखकर मन ही मन पति मान लिया। अब वह अनुमति लेने के लिये पिता के पास राजधानी में आई। उस समय अश्वपति की सभा में देवर्षि नारद मौजूद थे। सत्यवान् का परिचय पाकर नारद ने कह दिया—"सावित्री ने बिना सोचे-समझे बड़ा भारी अनर्थ कर डाला है"।

अहो बत महापापं सावित्र्या नृपते कृतम्।

कारण पूछा जाने पर ऋषि ने राजा से कहा—"सत्यवान् में सभी सद्गुण हैं। वे दाता, तेजस्वी, धीमान्, क्षमाशील, शांत, दांत, संयत, सत्यवादी, द्युतिमान्, वीर्यवान्, सुशील, सुंदर सब कुछ हैं; किंतु उनमें एक बड़ा भारी दोष है—

एक एवास्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति।
स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम्॥
एको दोषोऽस्ति नान्योस्य सोद्यप्रभृति सत्यवान्।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति॥

—वनपर्व २९५। २२–२३

वे अल्पायु हैं। आज से लेकर एक वर्ष के भीतर उनकी मृत्यु हो जायगी। प्रयत्न करने से यह मृत्यु रोकी नहीं जा सकती।"

तब अश्वपति ने सावित्री से कहा—बेटी, ऐसे पति को कभी अंगीकार न करना जो बहुत जल्द मर जानेवाला हो। दूसरा पति ढूँढ़ लो।

सावित्री ने उत्तर दिया—एक बार जिसे मन ही मन पति मान चुकी हूँ उसे छोड़कर मैं दूसरे को स्वीकार नहीं कर सकती। सत्यवान् ही मेरे पति हैं; मैं उन्हीं की पत्नी हो चुकी—

दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्त्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥

—वनपर्व, २९५।२७

पिता ने देखा कि बेटी अपने निश्चय से टलने की नहीं; तब वे उसको साथ लेकर द्युमत्सेन के आश्रम में गए और उनसे बोले—आप मेरी बेटी को अपनी पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार करें।

अब विधिपूर्वक सावित्री और सत्यवान् का विवाह हो गया। सावित्री ने अपने सभी गहने उतार दिए और वल्कल तथा काषाय वस्त्र पहन लिये। वह आदर्श-वधू के रूप से उस वन में रहने लगी। किंतु सोते जागते, उठते बैठते, हर घड़ी नारद की वह अमोघ वाणी उसके कानों में गूँजने लगी। धीरे धीरे वर्ष पूरा होने को हुआ। साथ ही साथ सत्यवान् की आयु का धागा भी टूटने को हुआ। सावित्री दिन गिनती जाती थी। सत्यवान् की परमायु के चार दिन और रह गए थे—

चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति सञ्चिन्त्य भामिनी।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताऽभवत्॥

—वनपर्व, २९७।३

तब सावित्री ने त्रिरात्रव्रत ग्रहण करके रात-दिन का उपवास किया। सास-ससुर ने उसे बहुत बहुत रोका, किंतु सावित्री व्रत तोड़ने के लिये किसी तरह राजी नहीं हुई।

चौथे दिन उपवास-क्लिष्ट सावित्री कठपुतली सी देख पड़ने लगी। आज वही चौथा दिन है! सत्यवान् की मृत्यु आज ही होगी! सत्यवान् का नियम था कि वे नित्य प्रातःकाल कुल्हाड़ी लेकर माता-पिता को ईंधन ला देने के लिये जंगल में जाते थे। सावित्री कभी स्वामी के साथ न गई थी। आज वह सास-ससुर से पूछ करके स्वामी के साथ हो ली। कहने लगी—मैं फूला हुआ वन देखने को बहुत उत्कंठित हूँ।

वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे।

* * * *

सह त्वया गमिष्यामि नहि त्वां हातुमुत्सहे॥

वन में लकड़ी काटते काटते सत्यवान् के सिर में बेतरह दर्द होने लगा। वे मृत्यु के संकट में पड़कर, सावित्री की गोद में सिर रखकर, काल-निद्रा में सो गए। इसके बाद ही सावित्री ने क्या देखा कि सत्यवान् को लेने के लिये स्वयं यमराज, पाश हाथ में लिये, खड़े हैं। यम ने कहा—"सावित्री, तुम्हारे स्वामी की आयु पूरी हो गई; हम उसे लेने को आए हैं।" अब सत्यवान् के सूक्ष्म शरीर को निकालकर यमराज दक्षिण ओर यमालय को जाने लगे—

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम् ।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥

—वनपर्व, २९८ । १७

सावित्री यम के पीछे पीछे जाने लगी । उसे लौटा देने के लिये यम ने अनेक उपाय किए, किंतु सावित्री ने दृढ़ता-पूर्वक कहा—

न मे प्रतिहता गतिः ।

"जहाँ मेरे स्वामी जायँगे वहाँ मैं भी जाऊँगी । यही सनातन रीति है"।

यत्र मे नीयते भर्त्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥

—वनपर्व, २९८ । २२

यम ने कहा—जीवित कहीं मृत के पीछे जाता है ? सावित्री, लौट जाओ ।

सावित्री का वही बँधा हुआ उत्तर है—

यतो हि भर्त्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।

यम ने कहा—मन चाहा वरदान माँग लो । तुम्हारे निपुत्री पिता के बेटे पैदा होंगे । राज्य-भ्रष्ट ससुर को फिर से राज-गद्दी मिलेगी; किंतु मैं सत्यवान् का जीवन नहीं दे सकता ।

सावित्री ने कहा—पति-विहीन होकर मैं सुख नहीं चाहती । पति-विहीन होकर मैं स्वर्ग की इच्छा नहीं करती ।

पति-विहीन होकर मैं ऐश्वर्य भी नहीं चाहती। पति के बिना तो मैं जीती हुई भी मुर्दा हूँ। अतएव मेरे जीवन की क्या आवश्यकता है? मैं तो यही वर माँगती हूँ कि आप मेरे स्वामी को जीवित कर दें।

वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ॥
—वनपर्व, २९८। ४३

यम लाचार थे। वे तो धर्मराज हैं। सावित्री की दृढ़ता, निष्ठा और धर्म के तेज ने उन्हें पराजित कर दिया। उन्होंने तथास्तु कह दिया—

एष भद्रे मया मुक्तो भर्त्ता ते कुलनन्दिनी !

"यह लो, मैंने तुम्हारे स्वामी को मुक्त कर दिया; तुम इसे प्रसन्नता से ले जाओ।"

अब मोहाच्छन्न सत्यवान् की देह में चेतना का संचार हुआ, वे सोकर जागे हुए की तरह उठकर सावित्री के पास खड़े हो गए। सावित्री के त्रिरात्र-व्रत का उद्यापन हो गया। उसने प्रयत्न और पौरुष से प्रारब्ध-निर्दिष्ट स्वामी की अल्प आयु को परिवर्तित करके उन्हें दीर्घायु कर दिया—

चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्त्ता लब्धश्च सत्यवान्।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ॥
—वनपर्व, २९९। ४२

सावित्री की यह पतिव्रता-कीर्ति भारतीय साहित्य में अमर हो गई है। इसको लक्ष्य करके महाभारतकार स्वयं कहते हैं—

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च।
भर्त्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम् ॥

—वनपर्व, ३०० । १

अब हम विष्णुपुराणोक्त ध्रुवचरित्र की आलोचना करेंगे। उसके फल से हमें ज्ञात होगा कि जिस प्रकार विश्वामित्र ने पौरुष करके अपनी जाति बदल ली थी और सावित्री ने पौरुष की सहायता से पति की आयु में परिवर्तन करा लिया था उसी प्रकार ध्रुव ने पुरुषकार द्वारा प्रारब्ध-निरूपित भोग में परिवर्तन करा लिया था।

उत्तानपाद राजा के दो बेटे थे—ध्रुव और उत्तम। ध्रुव दूसरी रानी सुनीति के गर्भ से उत्पन्न थे और उत्तम की माता रानी सुरुचि थी।

न नातिप्रीतिमान् तस्यां तस्याश्चाभूद् ध्रुवः सुतः।

—विष्णुपुराण, १ । ११ । ३

एक दिन बालक ध्रुव ने भाई उत्तम को पिता की गोद में देखकर आप भी पिता की गोद में बैठना चाहा—

राजासनस्थितस्याङ्कं पितुर्भ्रातरमास्थितम्।
दृष्ट्वोत्तमं ध्रुवश्चक्रे तमारोढुं मनोरथः ॥—१ । ११ । ४

किंतु ध्रुव की विमाता के डर से, स्त्री के वशीभूत, पिता को यह साहस न हुआ कि बालक को गोद में बैठ जाने दे—

प्रत्यक्षं भूपतिस्तस्याः सुरुच्या नाभिनंदत ।

इससे सौतेली माँ सुरुचि ने तीव्र वाक्य-बाण से ध्रुव के हृदय को छेदकर उसका उपहास किया—

क्रियते किं वृथा वत्स ! महानेष मनोरथः ।
अन्यस्त्रीगर्भजातेन असम्भूय ममोदरे ॥
उच्चैर्मनोरथस्तेयं मत्पुत्रस्येव किं वृथा ।
सुनीत्यामात्मनो जन्म किं त्वया नावगम्यते ॥

—१ । ११ । ७,१०

बेटा ! तुम्हारी यह कैसी दुराशा है ? तुम्हारा जन्म मेरे गर्भ से नहीं हुआ है, फिर सिंहासन पर क्यों बैठना चाहते हो ? यह दुर्लभ आसन मेरे पुत्र के ही योग्य है। क्या तुम्हें याद नहीं कि तुम्हारी माता सुनीति है ?

तं दृष्ट्वा कुपितं पुत्रं ईषत्प्रस्फुरिताधरम् ।
सुनीतिरङ्कमारोप्य मैत्रेयैतदभाषत ॥

—१ । ११ । १२

क्रुद्ध होकर ध्रुव जब माता के पास गए तब उन्होंने बालक को अनेक प्रकार से समझाने का यत्न किया।

नोद्वेगस्तात कर्तव्यः कृतं यद् भवता पुरा ।
तं कोऽपहर्तुं शक्नोति दातुं कश्चाकृतं त्वया ॥

राजासनं तथा छत्रं वराश्वा वरवारणाः ।
यस्य पुण्यानि तस्यैव ते तस्मात् शाम्य पुत्रक ॥

—१ । ११ । १७–१९

सुनीति ने कहा—वत्स, तुम इससे दुःख मत मानो। पिछले जन्म में तुमने जो शुभाशुभ कर्म किए हैं उनको भला कौन विफल कर सकता है? और जो कर्म किया नहीं है उसका फल ही कौन दिए देता है? देखो, राज्य और राज-भोग पुण्यात्मा पुरुष ही करते हैं। तुमने पुण्य नहीं किया है इससे उसका फल तुम्हें नहीं मिला। इसके लिए क्यों खेद करते हो? और—

यदि वा दुःखमत्यर्थं सुरुच्या वचसा तव।
तत्पुण्योपचये यत्नं कुरु सर्वफलप्रदे॥
सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नं यथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः॥

—१।११।२२-३

यदि सौतेली माता की बातों से इतने दुखी हुए हो तो अभीष्ट फल देनेवाले पुण्य का संचय करो। सुशील, धर्मात्मा और मैत्रीभावशाली बनो; प्राणिमात्र का हित किया करो। ऐसा करने से सारी संपदाएँ तुम्हें इस तरह प्राप्त हो जायँगी जिस तरह नीची धरती में पानी अपने आप संचित हो जाता है।

देखिए, इन उपदेशों में कितना सार भरा हुआ है। इनमें दैववाद और पुरुषकार का अपूर्व समन्वय है। मनुष्य की वर्तमान दशा पिछले जन्म के सुकृत और दुष्कृत का फल है। ध्रुव ने पिछले जन्म में पुण्य न कमाया था। इसी लिये उनको

राज्य-ऐश्वर्य न मिला। किंतु पुरुषकार द्वारा अदृष्ट का नियमन किया जा सकता है। क्रियमाण सुकृत द्वारा दुष्कृत रोका जा सकता है। इसी से ध्रुव की माता ने उपदेश दिया कि "पुण्य कमाने का उपाय करो, तभी मनोरथ सिद्ध होगा।" मनुष्य का क्रियमाण कर्म यदि सर्वथा अदृष्ट के अधीन होता, मनुष्य का संचित कर्म यदि क्रियमाण कर्म का अवश्य नियामक होता तो इस उपदेश में तनिक भी सार न बतलाया जाता। और इस उपदेश का अनुसरण करके ध्रुव बड़ी फुर्ती से सिद्धि पाकर प्रतिकूल अदृष्ट-शक्ति को प्रतिहत न कर सकते।

ध्रुव तो पुरुषकार के अवतार थे। उन्होंने माता के उपदेश को शिरोधार्य करके दृढ़तापूर्वक कहा—

सोऽहं तथा यतिष्यामि यथा सर्वोत्तमोत्तमम्।
स्थानं प्राप्स्याम्यशेषाणां जगतामपि पूजितम्॥
नान्यदत्तमभीप्स्यामि स्थानमम्ब स्वकर्मणा।
इच्छामि तदहं स्थानं यन्न प्राप पिता मम॥

—१।११।२५, २८

"मैं ऐसा यत्न करूँगा, ऐसे अध्यवसाय और पुरुषकार का प्रयोग करूँगा जिससे सारे जगत् के लिये पूज्य सर्वोत्तम स्थान मुझे प्राप्त हो। माता! मैं दूसरे का दान लेने की इच्छा नहीं करता। मैं अपने कर्म द्वारा ऐसे स्थान को प्राप्त करूँगा जो मेरे पिता को भी प्राप्त नहीं है।"

ध्रुव ने जो कहा था वही कर दिखाया।

निर्जगाम गृहात् मातुरित्युक्त्वा मातरं ध्रुवः ।
पुराच्च निष्क्रम्य ततस्तद् बाह्योपवनं ययौ ॥

घर से चलकर ध्रुव तपस्या करने के लिये जंगल में गए और मुनियों से ध्यान करने का उपदेश लेकर गंभीर ध्यान में निमग्न हो गए। इस प्रकार पुरुषकार का प्रयोग करके वे छः महीने में ऐसे पुण्यवान् हो गए कि स्वयं विष्णु ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिए और उन्हें ध्रुवलोक में कल्पकाल तक रहने का अधिकार दिया। भगवान् ने कहा—

सूर्यात्सोमात्तथा भौमात्सोमपुत्राद्बृहस्पतेः ।
सितार्कतनयादीनां सर्वर्क्षाणां तथा ध्रुवम् ॥
केचित् चतुर्युगं यावत् केचिन्मन्वन्तरं सुराः ।
तिष्ठन्ति भवतो दत्ता मया वै कल्पसंस्थितिः ॥

—१ । १२ । ९१, ९३

'सूर्य, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि प्रभृति सभी ग्रहों और तारागण के ऊपर ध्रुवलोक तुम्हारा स्थान हुआ। किसी की स्थिति चतुर्युग तक और किसी की मन्वंतर तक होती है; किंतु तुम पूरे कल्प भर ध्रुवलोक में रहोगे।'

मनुष्य का कार्य यदि अदृष्ट के अधीन होता, क्रियमाण कर्म के संबंध में यदि मनुष्य को स्वाधीनता न होती और मनुष्य यदि इस जन्म में पुरुषकार द्वारा पिछले जन्म के अदृष्ट में परिवर्तन न कर सकता तो क्या ध्रुव के लिये ऐसा हो सकता ?

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।—योगसूत्र

'प्रारब्ध के फल से जीव की जाति, आयु और भोग नियमित होता है।' यह बात है तो सत्य किंतु हम देख चुके हैं कि प्रयत्न और पौरुष द्वारा प्रारब्धजनित जाति, आयु और भोग, सभी में परिवर्तन हो सकता है। इसी कारण मनुष्य अदृष्ट के खेल की पुतली नहीं है—वह तो स्वयं भाग्य का नियामक है।

एकादश अध्याय

कर्म की निवृत्ति

हम देख चुके हैं कि कर्म अनादि है। यह बतलाना असंभव है कि किस अतीत कल्प में, किस ढँग से, कर्म का आरंभ क्योंकर हुआ।

तासां अनादित्वं आशिषो नित्यत्वात्।—योगसूत्र

कर्म जिस प्रकार अनादि है क्या उसी प्रकार अनंत भी है? हमें मालूम हो चुका है कि भोग के बिना कर्म का नाश नहीं होता।

शुभाशुभञ्च यत्कर्म विना भोगान्न तत्क्षयः।

मसीही साधु सेंट पाल (St. Paul) की भाषा में कह सकते हैं Whatever a man sowth that he shall also reap अर्थात् 'जो बोया जायगा वही फलेगा'।

हमने पिछले जन्म में जो कर्म किया है उसी का फल इस जन्म में भोग रहे हैं। और, इस जन्म में जो कर्म करेंगे उसका फल अगले जन्म में भोगेंगे। इस प्रकार कर्म-बीज से जन्मवृक्ष, और जन्म-वृक्ष से कर्म-बीज होता है, फिर जन्म होगा और फिर कर्म-फल भोगना पड़ेगा—इस तरह कर्म की धारा अनादि काल से चली आ रही है। तो क्या इस धारा का अंत

नहीं है ? अनादि काल से लेकर अनंत समय तक क्या जीव को यह कर्म-फल भोगना पड़ेगा अथवा इस नाटक पर पर्दा पड़ेगा ?

हमको मालूम हो चुका है कि कर्म तीन प्रकार का होता है—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पहले हमें यह देखना है कि क्रियमाण कर्म की निवृत्ति हो सकती है या नहीं। इस जन्म में हम जो काम करते हैं वही क्रियमाण कर्म है। जब कि हम क्रियमाण कर्म के विषय में स्वाधीन हैं तब सब प्रकार के कर्म से निवृत्त रहकर, 'नैष्कर्म्य' का अवलंबन करके, इस पाप से अपना पीछा क्यों न छुड़ा लें ? कर्म ही जब हमारे बंधन का हेतु है—कर्मणा बध्यते जंतुः—पाप-पुण्य, शुभाशुभ, चाहे जिस कर्म का अनुष्ठान क्यों न करें, जब उसका फल भोगना ही होगा—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

तब अपने आप गले में फंदा क्यों लगावें ? आज से ही प्रतिज्ञा कर लें कि अब हम नए कर्म के कर्ता न बनेंगे—उदासीन-निश्चेष्ट बैठे रहेंगे। तो ऐसा करने से क्या क्रियमाण कर्म की निवृत्ति हो जायगी ?

तनिक विचार करने से समझ में आ जायगा कि इस बात को मुँह से कह देना जितना सहज है उतना सहज कर डालना नहीं है। इसी से भगवान् ने गीता में कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥—३। ५

'कर्म किए बिना जीव क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्राकृतिक गुण की ताड़ना से उसे, इच्छा न होने पर भी, कर्म करना पड़ता है।' जब तक देह है तब तक तो कर्म रहेगा ही।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

—गीता, १८। ११

'देहधारी कभी सोलहों आने कर्म का त्याग नहीं कर सकता।' क्योंकि—

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येत् ह्यकर्मणः।

'बिना कर्म के शरीर का निर्वाह हो ही नहीं सकता।'

यह भी स्मरण रखना होगा कि निरी चेष्टना ही कर्म नहीं है—चिंतन और वासना भी कर्म ही है। हम हाथ-पैर समेट-कर, स्थूल देह के कर्म रोककर, धन-दौलत जमीन-जायदाद का चिंतन करने लगे। तो भला क्या हमारा नैष्कर्म्य हो गया? हमने देह को कर्म से अलग करके मन को कर्म में लगा दिया; बाहरी इंद्रियों का संयम करके, अन्य काम्य वस्तु का ध्यान करने लगे।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

—गीता, ३। ६

अतएव स्पष्ट हो गया कि यह मार्ग कर्म-निवृत्ति का नहीं है। तो क्या कोई और मार्ग है?

बीज के साथ हमने कर्म की तुलना की है। उर्वरा धरती में अच्छा बीज बोया जाय तो उसमें अंकुर निकलते हैं। किन्तु

यदि किसी उपाय से खेत ऊसर कर दिया जाय और बीज को या तो जला दिया जाय या भून डाला जाय तो फिर वह जम नहीं सकता। हमारे चित्तरूपी खेत को ऊसर बनाने और कर्म-बीज को निर्जीव करने का क्या कोई उपाय है?

भगवान् ने गीता में कहा है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।

'बुद्धियोग द्वारा पाप और पुण्य दोनों ही दूर किए जाते हैं।' तो यह बुद्धियोग क्या चीज है?

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥

—गीता, ४।१९–२०

'जिसके सारे काम बिना इच्छा और संकल्प के होते हैं उसे बुध (ज्ञाता) लोग 'पंडित' कहते हैं; उसके कर्म ज्ञानाग्नि से जल जाते हैं।' जो पंडित है वही बुद्धि-योगयुक्त है।

'वह कर्मफल से आसक्ति हटाकर नित्यतृप्त और निरा-लंब हो गया है, कर्म करके भी वह उससे बेलाग बना रहता है।'

इस तरह का कर्म-कौशल ही कर्म-योग है—

योगः कर्मसु कौशलम्।

इस कर्मयोग पर आरोहण करने के लिये एक के बाद एक तीन सीढ़ियाँ लाँघनी पड़ती हैं*।

पहले, फल की इच्छा के त्याग को ही लीजिए। गीता में कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

—२। ४७

'तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है; फल पाने की इच्छा मत करो।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

—३। १९

'अतएव अनासक्त होकर (फल की इच्छा छोड़कर) कर्तव्य बुद्धि से कर्म करो।'

जो इस प्रकार कर्म कर सकते हैं, उनके लिये जय-पराजय और सिद्धि-असिद्धि एकसी है।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

—गीता, २। ४८

सिद्धि-असिद्धि में जिन्हें ऐसा ज्ञान हो गया है वे कर्म का अनुष्ठान करके भी कर्म-पाश में नहीं बँधते—

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।

—गीता, ४। २२

---

* अपने ग्रंथ 'गीता में ईश्वर-वाद' में हमने इस विषय की आलोचना विस्तार के साथ की है, यहाँ तो संक्षेप में उसका परिचय दे दिया है।

कर्मयोग का यही प्रथम सोपान है।

कर्मयोग का दूसरा सोपान—कर्तृत्वाभिमान को छोड़ देना है। कर्म जो पाशरूप में परिणत होकर जीव को बन्धन में डालता है उसका प्रधान कारण जीव की अहंकार-बुद्धि है—यही अभिमान कि मैं यह काम कर रहा हूँ।

यह अहंकार-बुद्धि छोड़नी होगी—यों समझना होगा कि हम कुछ नहीं कर रहे हैं; यह धारणा करनी होगी कि कर्म करने में इन्द्रियाँ अपने अपने विषय में सिर्फ लगी रहती हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

* * * *

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

—गीता, ५। ८—९

'जो सब कर्मों को प्रकृति के द्वारा ही क्रियमाण समझते हैं और अपने को अकर्त्ता मानते हैं वे ही यथार्थदर्शी और बुद्धि-युक्त हैं।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानं अकर्तारं स पश्यति॥

—गीता, १३। ३०

इस प्रकार जिसने 'अहंभाव' को छोड़ दिया है, उसका क्या होता है?

गीता का वचन है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

—१८ । १७

'जिसमें अहंकार-बुद्धि नहीं है और जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ।'

कर्मयोग का तीसरा सोपान है—ईश्वरार्पण; ईश्वर को सब कर्म समर्पण कर देना ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

—गीता, १८ । ५७

'चित्त द्वारा सब कर्मों को मुझ (ईश्वर) में अर्पण करके, मत्परायण होकर, बुद्धियोग का आश्रय किए हुए सदा मुझमें चित्त लगाए रहो ।'

गीता का और भी कथन है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

—गीता, ९ । २७

'जो कुछ कर्म करो—भोजन, यजन, दान, तपस्या—सब ईश्वर के अर्पण कर दो ।' ऐसा करने से क्या होगा ? ऐसा करने से शुभ और अशुभ सभी के कर्म-बन्धन से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा ।—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

इसी लिये गीता में कहा गया है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

—५ । १०

'ईश्वर में कर्म अर्पण करके, आसक्ति-रहित होकर, जो कर्म कर सकता है वह पाप में लिप्त नहीं होता; जैसे कि कमल का पत्ता पानी में रहकर भी बेलाग रहता है।'

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

—गीता, ५ । ७

'योगयुक्त, विशुद्धात्मा, संयतात्मा, जितेंद्रिय व्यक्ति—जिसकी आत्मा सब प्राणियों की आत्मा के साथ एकीभूत हो गई है—कर्म करके भी लिप्त नहीं होता।'

इसको वेदांत की भाषा में अ-श्लेष कहते हैं।

तदधिगम्य उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेषविनाशौ ।
इतरस्यापि एवं असंश्लेषः ।

—ब्रह्मसूत्र, ४ । १ । १३—४

अर्थात् तत्त्वज्ञान आयत्त हो जाने से न केवल क्रियमाण पाप का ही बल्कि क्रियमाण पुण्य का भी अश्लेष होता है। यह उपनिषद का वही प्राचीन उपदेश है—

यथा पुष्करपलाशे आपो न शिश्लन्त एवम् एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते। तद्यथा ईषिकातूलं अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत् एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते,

सर्वे पाप्मानोऽतः निवर्तन्ते। उभे उ हैवैष एते तरति।

'जैसे कमल-पत्र में पानी नहीं लगता वैसे तत्त्वज्ञानी को पाप नहीं छू सकता।

'जिस प्रकार (ईषिका-नल) रूई आग में डालने से जल जाती है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी के सारे कर्म दग्ध हो जाते हैं।

'तत्त्वज्ञानी पाप और पुण्य दोनों के झगड़े से बच जाता है।'

आचार्य शंकर के गुरु के गुरु गौड़पाद ने इसी पिछली उक्ति की प्रतिध्वनि करके कहा है—'जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है उसके लिये धर्माधर्म फलप्रद नहीं होते। जिस प्रकार आग में भूने गए बीज में अंकुर नहीं निकलते उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी के लिये आचरित धर्माधर्म बन्धन का कारण नहीं होता।'

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनां अकारणप्राप्तौ एतानि सप्तरूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि। यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवं एतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि।

—सांख्यकारिकाभाष्य

यही बात वाचस्पति मिश्र ने दूसरे ढँग से कही है—

क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसुवते, तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलसलिलायामुषरायां कुतः कर्मबीजानां अंकुरप्रसवः।

अर्थात् 'उसी खेत में अंकुर उगते हैं जिसमें कि जल सींचा गया हो। प्रखर सूर्य की किरणों से यदि किसी खेत का सब

पानी सूख गया हो तो क्या उस ऊसर धरती में बीज जम सकता है ? अज्ञान से सींचो गई बुद्धि में ही कर्म का फल उत्पन्न हो सकता है किंतु जब समस्त अविवेक को सोखकर तत्त्वज्ञान चित्त को ऊसर कर देता है तब उस क्षेत्र में फिर कर्म-बीज किस प्रकार जमेगा ?'

जो व्यक्ति इस तरह कर्म कर सकते हैं उनका क्रियमाण कर्म नहीं रहता—वह अकर्म हो जाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः सर्वकर्मकृत्॥

—गीता, ४।१८

'जो कर्म में तो अकर्म और अकर्म में कर्म देखते हैं वे ही मनुष्यों में बुद्धिमान और कर्मयोगी हैं; वे ही सब कर्मों को करते हैं।'

यहाँ तक हमने कर्मयोगी के 'क्रियमाण' कर्म की ही चर्चा की है। उसके 'संचित' कर्म का क्या होता है ? उसकी निवृत्ति होती है या नहीं ? वेदांत-सूत्र से हमें पहले ही मालूम हो चुका है कि तत्त्वज्ञान के अधिगत हो जाने पर क्रियमाण या आगामी कर्म का जिस प्रकार 'अश्लेष' होता है उसी तरह संचित या अतीत कर्म का 'विनाश' होता है—

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेष-विनाशौ—४।१।१३

इसके भाष्य में श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सति उत्तरपूर्वयोः अघयोः अश्लेष-विनाशौ भवतः। उत्तरस्य अश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः ※ ※ अश्लेष इति च आगामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविद् इति दर्शयति। अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात् कर्तृत्वं प्रतिपेद इव, तथापि विद्यासामर्थ्यात् मिथ्याज्ञाननिवृत्तेः तान्यपि प्रविलीयन्ते इत्याह विनाश इति।

अर्थात् 'ब्रह्मज्ञ के लिये क्रियमाण कर्म का अश्लेष और संचित कर्म का विनाश हो जाता है। क्रियमाण कर्म के संबंध में जब उनका कर्तृत्व ही नहीं रहता तब अश्लेष तो होगा ही। अतीत कर्म के संबंध में अनुष्ठान के समय अज्ञानवश उनकी कर्तृत्व-बुद्धि थी सही, किंतु अब विद्या के बल से अविद्या की निवृत्ति हो जाने के कारण उसका भी विनाश हो जाता है।'

इसी मत का समर्थन करके गीता में कहा है—

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥—४ । ७३

'हे अर्जुन! जिस प्रकार तेज आग में लकड़ियों का ढेर जलकर भस्म हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि में सारे कर्म भस्म हो जाते हैं।'

यहाँ पर ज्ञानाग्नि द्वारा होनेवाली संचित कर्म की इस दाह-प्रक्रिया पर तनिक खुलकर विचार करना अनुचित न होगा। साधना के उच्च शिखर पर आरोहण करके साधक जिस ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता है उस अग्नि के प्रकाश में साधक

को जन्म-जन्मांतर की अतीत कहानियाँ देख पड़ती हैं—मतलब यह कि वह 'जातिस्मर' हो जाता है। उसे मालूम हो जाता है कि किस किस जीव का उसने और उसका किस किसने अनिष्ट किया है, किस किसका उस पर कितना ऋण है, उसका किस किस पर कितना ऋण है, वे लोग इस समय किस तरह हैं, कौन लोग भूलोक में उत्पन्न हो गए हैं और कौन कौन लोग भुवर्लोक या स्वर्लोक में मौजूद हैं; और तब वह प्रयत्न तथा पौरुष का प्रयोग करके क्रियमाण कर्म द्वारा उसका यथोचित प्रतिविधान करता है। यों समझिए कि उसने पिछले जन्म में किसी पर अत्याचार करके उसका धन छीन लिया था। अब जातिस्मर होकर देखा कि वह एक दरिद्र परिवार में उत्पन्न होकर द्रव्य न होने से क्लेश सह रहा है। यह मालूम हो जाने के कारण वह स्वयं उससे हेल-मेल बढ़ावेगा और अनेक प्रकार से, वह छीना हुआ धन, चक्रवृद्धि की दर से उसको सौंप देगा। अथवा उसने देखा कि एक व्यक्ति ने पिछले जन्म में उसे बहुत अधिक सताया था, इसलिये उस व्यक्ति पर उपजा हुआ क्रोध-रूप बीज उसके मन में छिपा हुआ है। आगे चलकर यह बीज अंकुरित होगा और उस व्यक्ति के साथ उसकी शत्रुता करा देगा। फल यह होगा कि वह व्यक्ति विपत्ति में फँसेगा। यह देखकर वह अपने प्राप्य कर्म-ऋण को बट्टेखाते डाल देगा और जिघांसा के स्थान में उस व्यक्ति के प्रति मैत्री तथा करुणा का भाव पालेगा। इस प्रकार ज्ञानी

पुरुष विपरीत शक्ति का प्रयोग करके प्रवर्तित पूर्व शक्ति को रोक देते हैं और ज्ञानाग्नि में संचित कर्म को भस्म कर देते हैं*।

समय समय पर देखा जाता है कि सज्जन व्यक्ति—उच्च श्रेणी का साधक—पतित पुरुष या स्त्री का साथी हो जाता है, दुर्वृत्त या ओछे आदमी का साथ देता है और दिली दोस्त बन जाता है। इस दृश्य के देखने से नासमझ आदमी को आश्चर्य होता है। वह बहुत सी बुरी बातें लोगों में फैला देता है। किन्तु वह सज्जन बड़ी दृढ़ता से अपना काम करता जाता है, अपने पिछले जन्म के संचित कर्म-ऋण का हिसाब चुका देता है। यह भी ज्ञानाग्नि द्वारा संचित कर्म के दाह का दृष्टांत है†।

गीता का कहना है,—'सब कर्मों को जला दो'। यहाँ सब का क्या अर्थ है? केवल 'संचित' कर्म, या 'संचित' और 'प्रारब्ध' दोनों? श्रीधर स्वामी इस श्लोक की टीका में कहते हैं—

---

* Thus he may neutralise forces coming out of the past by sending against them forces equal and opposite, and may, in this way, "burn up his Karma by Knowledge".—Ancient Wisdom, p. 356.

† Strange and puzzling lines of action adopted by occultists have sometimes this explanation—the man of knowledge enters into close relation with some person, who is considered by the ignorant by-standers and critics to be quite outside the companionships that are fitting for him, but the occultist is quietly working out a Karmic obligation which would otherwise hamper and retard his progress.—Ancient Wisdom, p. 271.

आत्मज्ञानस्वरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि पुण्यानि पापानि प्रारब्धेतराणि भस्मीकरोति।

अर्थात् 'आत्मज्ञानरूप अग्नि प्रारब्ध के सिवा और सब सुकृत-दुष्कृत (पुण्य-पाप) को भस्म कर देता है।'

श्रीशंकराचार्य का भी यही मत है—

येन कर्मणा शरीरं आरब्धं तत्प्रवृत्तफलत्वात् उपभोगेनैव क्षीयते। अतो यानि अप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि, अज्ञानसहभावीनि च अतीतानेकजन्मकृतानि च तान्येव सर्वाणि कर्माणि भस्मसात् कुरुते।

अर्थात् 'संचित कर्म का जो अंश प्रवृत्त-फल (जिसे 'प्रारब्ध' कहते हैं) है उसके सिवा जितने भी कर्म पिछले जन्मों में (अज्ञान की दशा में) हो चुके हैं वे सब भस्म हो जाते हैं।'

इस भस्मांत संचित कर्म का फल फिर नहीं भोगना पड़ता, उसके द्वारा दूसरा जन्म होने का खटका नहीं रहता। इसी लिये उपनिषद् का वचन है—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

—मुण्डक, २। २। ८

'उस परावर ब्रह्म-वस्तु के दर्शन हो जाने से (संचित) कर्म की निवृत्ति हो जाती है।'

और प्रारब्ध कर्म—जिसे कि श्रीशंकराचार्य ने 'प्रवृत्त-फल' कहा है—उनका अश्लेष या विनाश नहीं होता; उसको तो भोग करके ही मेटना पड़ता है—

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

इस संबंध में ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट उपदेश है—

भोगेन तु इतरे क्षपयित्वा संपद्यते ।—४ । १ । १६

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोः विद्यासामर्थ्यात् क्षय उक्तः । इतरे तु आरब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म संपद्यते—शंकर ।

अर्थात् 'प्रवृत्त-फल जो पुण्य-पाप हैं, वही ज्ञान के बल से विनष्ट होते हैं; किंतु प्रारब्ध या प्रवृत्त-फल कर्म को भोग के द्वारा नष्ट करना पड़ता है ।'

इस पाद के १५वें सूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने इस विषय को और भी साफ कर दिया है । वे कहते हैं कि जन्मांतर में संचित, या ज्ञानोत्पत्ति होने से पहले किए हुए, सुकृत-दुष्कृत ज्ञानाधिगम से विनष्ट हो जाते हैं किंतु जिस प्रारब्ध कर्म के द्वारा इस जन्म का शरीर बना है उसका नाश भोगे बिना नहीं होता ।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः—४ । १ । १५

अप्रवृत्त-फले एव पूर्वे जन्मांतरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्-ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयतो न त्वारब्धकार्ये साभिभुक्तफले याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम् ।

—शंकर भाष्य

यहाँ पर श्रीशंकराचार्य का लक्ष्य तत्त्वज्ञानी ही है । किंतु जो लोग निरे तत्त्वजिज्ञासु हैं वे मोक्षमार्ग में आगे बढ़े हैं सही पर सिद्धि के उच्च शिखर तक अभी नहीं पहुँचे हैं,—जैसे राजा नल और युधिष्ठिर प्रभृति—वे प्रारब्ध को किस प्रकार भोगते

हैं? ध्यान देने से मालूम होता है कि इस श्रेणी के अधिकांश साधकों को इस जीवन में दुःख का बहुत भारी बोझ लादना पड़ता है। मानों विधाता चुन चुन करके उन्हें त्रिताप के त्रिशूल से छेदते हैं—उन्हें बेहद दुःख की दशा में पटकते हैं। इन लोगों की दशा देखकर ही लोग कहने लगे हैं कि "जो करता है मेरी आश, करता उसका सत्यानाश।" ऐसा क्यों होता है? कर्म का यह कैसा विचित्र विधान है?

हमने पिछले अध्यायों में कर्म के संबंध में जो आलोचना की है उसको स्मरण करने से इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन न होगा। कर्मविधाताओं का विधान यह है कि जिसमें जितना भार सहने की योग्यता है उससे अधिक बोझ वे उस व्यक्ति पर नहीं लादते हैं। क्योंकि सामर्थ्य से अधिक लाद देने पर वह झुक जायगा; उस व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी टूट जायगी और जन्मांतर का मुख्य उद्देश्य—जीव की अंतर्हित शक्ति का विकास—व्यर्थ हो जायगा। इसी लिये बाइबिल में एक बहुत अच्छी बात है कि जिसकी ऊन कतर ली गई है ऐसी भेड़ के लिये भगवान् वायु का वेग घटा देते हैं, नहीं तो वह जाड़े के मारे अकड़ जायगी*।

अतएव साधारण जीव के लिये यह व्यवस्था है कि पिछले जन्म में किए हुए उसके दुष्कृत का थोड़ा सा ही अंश इस जन्म में भोगने के लिये प्रारब्ध में मिलाया जाता है। क्योंकि साधारण

* Heaven tempers the wind to the shorn lamb.

जीव अत्यधिक कष्ट के वेग को नहीं सह सकते। किंतु जब कोई व्यक्ति साधन-मार्ग का अवलंबन करके असाधारण होने लगता है और शीघ्र ही जीवन्मुक्ति के समीप पहुँचने को होता है तब कर्मविधाता लोग उसकी बढ़ी हुई सहनशीलता देखकर उसके संचित दुष्कृत में से और भी दुष्कृत को छाँटकर प्रारब्ध में जोड़ देते हैं। फल यह होता है कि साधारण जीवन बिताने से जिन दुष्कृतों का फल एक से अधिक अगले जन्मों में भोगना पड़ता वह सबका सब इस जीवन के प्रारब्ध में आ जाता है और इस श्रेणी के साधक, विधाता का दान मानकर, हँसी-खुशी से उस दुःख, कष्ट और यातना को सिर झुकाकर सह लेते हैं।

इस कर्मनिवृत्ति के प्रसंग में प्राचीन दार्शनिकों ने एक और प्रश्न कर दिया है। तत्त्वज्ञान आयत्त होने पर जब अभिमान और अहंकार तिरोहित हो जाता है तब जीवन्मुक्त साधक का शरीर किस प्रकार टिका रहता है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य-कारिका में दिया गया है। पहिया घुमा करके कुम्हार घड़ा बनाता है। घड़े के बन जाने पर भी घड़े का जो momentum या वेगाख्य संस्कार रहता है उसी संस्कार के कारण पहिया घूमता रहता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त की शरीरयात्रा, संस्कार से ही, निष्पन्न होती है—वह केवल शारीर कर्म है, उसके साथ उसके चित्त का योग नहीं रहता—

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्।

—गीता, ४। २१

ईश्वरकृष्ण की उक्त कारिका और वाचस्पति मिश्र की टीका हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकरणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीरः ॥

—सांख्यकारिका, ६७

यथोपरतेऽपि कुलालव्यापारे चक्रं वेगाख्यसंस्कारवशाद् भ्रमन् तिष्ठति कालपरिपाकवशात्तूपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति । शरीर-स्थितौ च प्रारब्धपरिपाकौ धर्माधर्मसंस्कारः ।

इस बात को शंकराचार्य अस्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—

बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचंद्रज्ञानवत् संस्कारवशात् कंचित्कालं अनुवर्त्तत एव।—४ । १ । १५ सूत्र का भाष्य ।

किंतु वे कहते हैं कि इस विषय पर वितर्क करना ठीक नहीं है ।

अपि च नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियते इति । कथं हि एकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं वा अपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्यते ।

अर्थात् 'ब्रह्मज्ञान स्वहृदयवेद्य है । ब्रह्मज्ञानी को कब तक किस प्रकार शरीर धारण करना पड़ता है इस पर विवाद करना ठीक नहीं ।' क्योंकि इस संबंध में उपनिषद का उपदेश है—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये । अथ सम्पत्स्ये ।

—छान्दोग्य, ६ । १४ । २

जो हो, हम देख चुके हैं कि तत्त्वज्ञानी के लिये—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—त्रिविध कर्म की निवृत्ति हो जाती है, फलतः उसे जन्म धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती* ।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।

—बृह, ४ । ४ । १२

---

* Karma can then no longer hold it ; Karma can then no longer bind it ; the wheel of cause and effect may continue to turn, but the soul has become the liberated Life—Karma, p. 66.

जन्मांतर

प्रथम अध्याय

जन्मांतर का प्रमाण

पूर्वार्ध में, कर्मवाद की आलोचना करते समय, हमने बार-बार जन्मांतर की दुहाई दी है। वास्तव में यदि जन्मांतर असिद्ध हो, तो कर्मवाद की बुनियाद ही नहीं रह जाती। आर्य ऋषियों की बुद्धि से समुद्भूत तत्त्वमंदिर के दो धारण-स्तंभ हैं--कर्मवाद और जन्मांतर। कर्मवाद की आलोचना हम कर चुके, अब जन्मांतर की छान-बीन की जायगी। महाभारतकार ने कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमसादनम्।

मृत्यु मनुष्यजीवन की प्रतिदिन की घटना है—बहुत ही परिचित मामला है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।—गीता

जन्म के साथ ही मृत्यु का पुछल्ला लग जाता है। मरण तो जीवन का यमज—साथ पैदा हुआ—भाई है।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।

इसलिये बंगाल के भक्त-कवि रामप्रसाद ने प्रायः १५० वर्ष पहले पूछा था—"बतलाओ तो, मरने से क्या होता है?" मनुष्यों का यह बहुत पुराना प्रश्न है। हजारों वर्ष पहले भारत के एकांत तपोवन में भी यही प्रश्न हुआ था—

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।

अभी उस दिन जो इस युग के महा-कुरुक्षेत्र में लाखों जीव, आग में पतंगे की तरह, मृत्यु के मुँह में समा गए— दिन पर दिन उस दृश्य को देखकर वही पुराना प्रश्न फिर प्रबलता से मनुष्य के मन में जाग उठा है—बतलाओ तो, मरने पर क्या होता है ?

जड़वादी लोग देह के अतिरिक्त देही को नहीं मानते; वे समझते हैं कि परमाणुओं के मनमाने संयोग से इस जगत् का संगठन हुआ है, उनकी समझ में चिंतन मस्तिष्क की क्रियामात्र है, उनकी राय में देह के नष्ट होते ही सब कुछ पूरा हो जाता है; ऐसे जड़वादियों के लिये इस प्रश्न का उत्तर दे देना बहुत ही सहज काम है। किंतु उनका उत्तर युक्ति-संगत नहीं है और प्रत्यक्ष देखी हुई घटना से उसका मेल नहीं मिलता। इस मत की असारता के प्रतिपादन करने का यह स्थान नहीं है। यहाँ पर हम उस प्रसंग को न छेड़ेंगे। अभी हम मान लेंगे—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये।

—कठ, १। २०

'जीव के मर जाने पर मनुष्य को संदेह होता है; कोई तो उसका रहना मानता है और कोई नहीं भी मानता।' यह संदेह निराधार है। हम मान लेंगे कि जीव अविनाशी है—देह के नाश से उसका नाश नहीं होता। हम मान लेंगे

कि देहातिरिक्त चैतन्य है, देह न रहने पर भी यह चैतन्य बना रहता है। हम अपने मत का पोषण करने के लिये ही यहाँ पर आर्य ऋषियों के सिद्धांत का उल्लेख करेंगे।

हम जानते हैं कि आर्य ऋषि लोग देह से अतिरिक्त देही को मानते थे। उनके मत से शरीर अनित्य और शरीरी—शरीर का अधिष्ठाता, जीव—नित्य है। शरीर नश्वर, शरीरी अविनाशी है। शरीर का नाश हो जाने पर भी शरीरी का नाश नहीं होता।

मर्त्यं वा इदं शरीरं आत्तं मृत्युना।
तदस्य अशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्॥
—छान्दोग्य, ८।१२।१

'यह शरीर मर्त्य, मृत्युग्रस्त है; यह अशरीर है, और अमृत आत्मा का अधिष्ठान है।' आर्य ऋषियों की शिक्षा के अनुसार जीव अजर, अमर और अक्षर है।

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः।—कौषीतकी

जीव का न तो मरण होता है न जन्म; वह उत्पत्ति और विनाश, तथा अपचय और उपचय से हीन है।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥—गीता २।२०

'जीव अज, नित्य, पुरातन और सनातन है।'

हम आर्य ऋषियों के इस उपदेश को सत्य मान लेते हैं। इस मत के समर्थन में जितनी युक्तियाँ दी जा सकती हैं उन्हें हम न देंगे। किंतु देहातिरिक्त आत्मा को स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न होता है कि देह का नाश हो जाने पर आत्मा की क्या गति होती है ? चैतन्यवादी लोग इसका उत्तर तीन तरह से दे सकते हैं। (१) यह कि जीव महाचैतन्य का बिंदु है; देह के न रहने पर यह बिंदु सिंधु में जा मिलता है। घट के न रहने पर जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में मिल जाता है उसी प्रकार देह न रहने पर जीव-चैतन्य ब्रह्म-चैतन्य में एकाकार हो जाता है। तब जल में जलबिंब के मिला देने से जीव की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। बौद्ध लोग जिसे निर्वाण कहते हैं और जिसे हिंदू शास्त्र में विदेह-मुक्ति कहा गया है वह इसी ढँग की बात है। किंतु उस मत से भी यह निर्वाण-मुक्ति अत्यंत उच्च अधिकारी की प्रभूत साधना की चरम परिणति है। इसको साधारण जीव प्राप्त नहीं कर सकता। यदि यह बात है तो देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा की और क्या गति हो सकती है ? ईसाई और मुसलिम संप्रदाय का साधारण विश्वास यह है कि देह न रहने पर आत्मा अन्य लोक में चली जाती है और कर्म के तारतम्य के अनुसार उच्च अथवा निम्न लोक में, स्वर्ग या नरक में, सदा बनी रहती है। हिंदू और बौद्ध प्रभृति भी मृत्यु के पश्चात् जीव की लोकांतर-गति मानते हैं; किंतु उनका कहना है कि जीव कुछ समय तक लोकांतर में रहकर

फिर इसी लोक में लौट आता और दूसरा शरीर धारण कर लेता है अर्थात् जीव का दूसरा जन्म हो जाता है। इस देश के प्रचलित विश्वास के अनुसार जीव एक या दो बार नहीं बल्कि बारंबार जन्म लेता रहता है।

अवश्य ही एक दिन ऐसा आता है जब जीव को इस लोक में लौटने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह आवागमन के चक्कर को काटकर बहुत ऊँचे लोक में जा पहुँचता है। 'न पुनरावर्त्तन्ते।' किंतु यह बहुत अधिक साधन की बात है, साधारण मनुष्य की नहीं। साधारण मनुष्य को तो उक्त प्रकार से दूसरे लोक में जाकर कुछ समय तक रहना और फिर दूसरा जन्म ग्रहण करना पड़ता है। दूसरा जन्म होने का भला प्रमाण क्या है ?

जन्मांतर के संबंध में प्रमाण देने से पहले हम पाठकों के चित्त में यह बात जमा देने के लिये, कि यह मतवाद सर्वथा असंभव नहीं है, कुछ पाश्चात्य पंडितों के मत को उद्धृत करेंगे और बतलावेंगे कि विज्ञान जिसे Working hypothesis कहता है, उस रूप से यह मतवाद ग्रहण किया जा सकता है।

संभवतः हक्सले का नाम सभी ने सुना होगा। ये उन्नीसवीं शताब्दी के प्रधान वैज्ञानिक थे; यही क्यों, इस युग के इँगलैंड के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक थे। उन्होंने 'विवर्तवाद और धर्मनीति' (Evolution and Ethics) नामक ग्रंथ में इस प्रकार लिखा है—"तरल मतिवालों के सिवा और कोई जन्मांतर-वाद को

एकदम असंभव बताकर उड़ा न देगा। विवर्तनवाद की तरह जन्मांतरवाद भी सत्यभूमि पर प्रतिष्ठित है और उपमान (Analogy) प्रमाण की दृढ़ युक्ति द्वारा इसका भी समर्थन किया जा सकता है।" जो लोग पाश्चात्य मत को ही सब कुछ समझते हैं वे हक्सले की सारगर्भित बातों पर* ध्यान दें। जिनका मत तरल मतिवालों जैसा है वे सार सत्य को असंभव बताकर उड़ा न दें*।

इस संबंध में हम एक और विख्यात वैज्ञानिक का मत उद्धृत करेंगे। ये हैं पोलिश विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अध्यापक लुटोलस्की (Lutoslawski)। ये अपने प्रथम जीवन में विज्ञान के उपासक थे और हेकेल, बुकनर प्रभृति के संसर्ग में आकर जड़वाद के पक्षपाती हो गए। फिर इन्होंने दर्शन, मनस्तत्त्व और तर्कशास्त्र (Philosophy, Psychology and Logic.) की आलोचना में मन लगाया। अब उनका नाम यूरोप भर में विश्रुत हो गया है†। कई वर्ष की बात है कि उनके जीवन में कुछ

---

* Professor Huxley in his "Evolution and Ethics" (p. 61, Edition of 1894) observes "None but very hasty thinkers will reject it on the ground of inherent absurdity. Like the doctrine of Evolution itself, that of transmigration has its roots in the world of reality, and it may claim such support as the great argument of 'Analogy' is capable of supplying"

† Prof. Lutoslawski's conversion is a most remarkable one in recent times. He is a professor at the Polish University, Wilno, and a psychologist and logician of European reputation. He has now completed his sixtieth year. He had devoted several years to the study of

अद्‌भुत घटनाएँ हुईं। फल यह हुआ कि उन्होंने जड़वाद को छोड़ दिया। उनकी यह Conversion कथा जुलाई सन् १९२३ के Hibbert Journal में प्रकाशित हुई थी। किंतु यहाँ पर हमें उसकी आलोचना नहीं करनी है।

इन्हीं अध्यापक लुटोलस्की का कहना है कि जन्मांतर की सत्यता के संबंध में हमें जरा भी संदेह नहीं है। (Absolute certainty of his pre-existence and reincarnation) "इस विषय में हमें निश्चय हो गया है कि इस बार पृथ्वी में जन्म होने से पहले हमारा जन्म हुआ था और मरने पर फिर भी जन्म होगा। मानव-जीवन की सारी अभिज्ञता जब तक हमको नहीं हो जायगी तब तक हमें यहाँ पर बार बार आना पड़ेगा—स्त्री-पुरुष, धनी-दरिद्र, स्वाधीन-पराधीन अनेक दशाओं में उत्पन्न होकर हमें मनुष्य का ज्ञातव्य विषय सीखना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही हमारा नर-जन्म होना रुकेगा*।"

Chemistry before he took up the study of Philosohy, Psychology and Logic. He is an abstract thinker disciplined by both Science and Philosophy William James once wrote to him, 'you belong to the theoretic life as few men do'.

* I cannot give up my conviction of a previous existence on earth before my birth, and that I have the certainty to be born again after my death, until I have assimilated all human experience, having been many times male and female, wealthy and poor, free and enslaved, generally having experienced all conditions of human condition.

एक और पाश्चात्य विद्वान् का मत उद्धृत किया जाता है। ये हैं कवि-सम्राट् गेटे (Goethe)। शायद बहुत लोगों को मालूम होगा कि गेटे एक साथ वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि थे। अभिज्ञ व्यक्तियों ने उनके संबंध में छान-बीन करके कहा है कि वे उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों के सर्वप्रधान साहित्य-रथी (most potent literary force of the nineteenth century) थे। अतएव गेटे के मत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने एक बार कहा था—'मेरा दृढ़ विश्वास है कि मैं जैसा इस समय वर्तमान हूँ वैसा ही हजार बार था। फिर भी हजार मर्तबा पृथ्वी पर आऊँगा*।' वही गीता का प्राचीन वचन है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

"हे अर्जुन! हमारे तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं।"

शायद बहुत लोगों को मालूम होगा कि यूनानी तत्त्ववेत्ता पीथागोरस (Pythagoras), प्लेटो (Plato) प्रभृति भी जीव का जन्मांतर होना मानते थे। इसी लिये अज्ञानमय मध्ययुग में (जब कि यूरोप से सत्यज्ञान तिरोहित हो गया था) पीथागोरस को बहुत खरी-खोटी सुननी पड़ी थीं। यहाँ तक कि महाकवि शेक्सपियर ने भी एकाधिक बार इस मत-वाद की

---

* On the occasion of Weiland's funeral (Jan. 25, 1813) Goethe said to Folk—"I am sure that I, such as you see me here, have lived a thousand times and I hope to come again another thousand times."

खिल्ली उड़ाई है। किंतु अब हँसी-दिल्लगी का समय नहीं है। उत्तराधिकार-सूत्र में जिन्होंने महाकवि शेक्सपियर का आसन ग्रहण किया था उनका जन्मांतर-संबंधी अभिमत पाठकों को पहले ही बतला दिया गया है। अतएव जन्मांतरवाद को लापरवाही के साथ असंभव और अवैज्ञानिक कहकर उड़ा देना सहज नहीं है। धीर स्थिर भाव से ध्यान लगाकर इसकी आलोचना करनी चाहिए।

तो क्या जन्मांतर सत्य है? क्या इसका कुछ प्रमाण है? प्रमाण तीन प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम*। जो साफ साफ इंद्रियगोचर है वही प्रत्यक्ष है। तो क्या हम जन्मांतर को प्रत्यक्ष देख सकते हैं? यदि नहीं, तो क्या जन्मांतर-वाद अनुमान-सिद्ध है? सुदृढ़ युक्ति की सहायता से क्या हम इसकी सत्यता सिद्ध कर सकते हैं? भूल-चूक न करनेवाले तत्त्वदर्शी आप्त व्यक्ति के उपदेश का नाम आगम है। क्या ऐसे आप्त उपदेश द्वारा जन्मांतर सिद्ध हो सकता है? ऐसे उपदेश का साधारण नाम शास्त्र है। शास्त्र में ईश्वर-वाक्य अथवा ईश्वर-तुल्य सर्वज्ञ ऋषियों के वाक्य निबद्ध हैं। इसी लिये शास्त्र प्रामाणिक हैं। शास्त्रों में जन्मांतर के संबंध में क्या उपदेश है?

इसमें संदेह नहीं कि सब लोग आगम ग्रंथों को प्रामाणिक नहीं मानते। हेतुवादी (Rationalists) लोग या तो प्रत्यक्ष पर

---

*प्रत्यक्ष = Perception, अनुमान = Inference और आगम = Authority (आप्त वाक्य)।

भरोसा करके सत्य का अवधारण करना चाहते हैं या अनुमान पर। उनके लिये शास्त्र का प्रमाण देना ठीक नहीं। फिर भी हम पहले जन्मांतर-संबंध में शास्त्रवाक्यों की ही छान-बीन करेंगे।

शास्त्र का सार है गीता, 'सर्वशास्त्रमयी गीता'। उपनिषदरूप गौओं को दोहन करके भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षुधित-तृषित जीव के लिये यह गीतारूप अपूर्व अमृत संचित कर रखा है। वही गीता सुस्पष्ट भाषा में आत्मा के जन्मांतर को घोषित करती है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

'जन्म होने से मृत्यु निश्चित है और मरने पर जन्म होना निश्चित है।' इस प्रकार जीव बार-बार उत्पन्न होता और मरता है। जन्म हुआ, मृत्यु हुई, फिर उपजे, फिर मरे,—इस प्रकार पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु के घूमते हुए पहिए में जीव चक्कर खा रहा है। यही जीव का आवागमन है—भ्राम्यमाण संसार-चक्र का फेरा है। देहांत होने पर जीव सुकृत के फल से या तो स्वर्ग में जाता है या दुष्कृत का फल भोगने को नरक में जाता है। किंतु यह फल-भोग स्थायी नहीं है। भोग का अंत होने पर उसे फिर पृथ्वी में लौट आना पड़ता है। भूमंडल में वह फिर कर्म करता है। उसके फल से वह फिर या तो स्वर्ग में जाता या नरक में गिरता है। किंतु यह चढ़ना अथवा गिरना सदा के लिये नहीं है। कुछ समय बीतने पर उसे फिर संसार में लौट आना पड़ता है।

इसी को लक्ष्य करके गीता में कहा गया है—

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

—गीता, ९। २०—१२

'वे पुण्यात्मा लोग पुण्यफल से स्वर्गलोक में जाकर देव-भोग भोगते हैं। फिर विशाल स्वर्गलोक का भोग करके, पुण्य क्षीण हो जाने पर, मृत्युलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार जो लोग सकाम कर्मकांड का अनुसरण करते हैं उन्हीं कामकामी व्यक्तियों का वारंवार आवागमन होता है।'

पुण्यात्मा व्यक्ति के संबंध में जो कुछ कहा गया है वही बात पापी के लिये भी समझनी चाहिए। क्योंकि शास्त्र का वचन है—पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

'पुण्य करने से पुण्यलोक (स्वर्ग आदि) प्राप्त होता है और पाप करने से पापलोक (नरक आदि) मिलता है।'

पापलोक में दुःख भोग चुकने पर पापी को भी, पाप का बोझ हट जाने पर, इस लोक में लौटना पड़ता है। क्योंकि यही पृथ्वी कर्मभूमि है; स्वर्ग-नरक, पुण्यलोक-पापलोक तो भोग-भूमि हैं। इस लोक में जीव जो जो कर्म करता है—फिर

वह चाहे पाप हो, चाहे पुण्य—उसका फल परलोक में भोगना पड़ता है। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख है। पतंजलि कहते हैं—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

'पुण्य के फल से ह्लाद (सुख) होता है; और अपुण्य (पाप) के फल से परिताप (दुःख) होता है।' यही विधाता का विधान है। किंतु पापी हो चाहे पुण्यात्मा, जीव को परलोक में कर्म का फल भोग चुकने पर फिर इस लोक में आना ही पड़ेगा। इसे 'आवृत्ति' कहते हैं--पुनः पुनः संसारे गतागतिः।

किसी किसी की यह धारणा है कि यद्यपि गीता और पुराण आदि अपेक्षाकृत अर्वाचीन शास्त्र-ग्रंथों में जन्मांतर का बार बार उल्लेख है तथापि प्राचीन वैदिक साहित्य में जीव के जन्मांतर ग्रहण करने का कोई उल्लेख नहीं है। उनकी यह धारणा सर्वथा निराधार है। क्योंकि वेद के शीर्षस्थानीय उपनिषद् में जन्मांतर का स्पष्ट उल्लेख है। कठ उपनिषद् में यम नचिकेता से कहते हैं—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

—कठ, २।५।६—७

'हे गौतम ! हम तुमको गुह्य सनातन ब्रह्म का उपदेश करेंगे और मृत्यु के पश्चात् आत्मा की जो गति होती है उसका भी भेद बतलावेंगे। कोई कोई जीव शरीर धारण करने के लिये माता की कोख में प्रवेश करता है और कोई स्थाणु (स्थावर योनि) हो जाता है।'

जिसका जैसा कर्म होता है, जैसा ज्ञान होता है, तदनुरूप उसकी गति होती है। उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥
इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

—मुण्डक, १। २। ६–१०

'अविद्या से मोहित मूढ़ व्यक्ति कर्मानुष्ठान करके अपने को कृतार्थ समझते हैं। कर्म की आसक्ति के मारे उन्हें ज्ञान नहीं हो पाता। उसके फल से आतुर होकर वे उच्च लोक से प्रच्युत होते हैं। जो लोग कर्मकांड को ही श्रेष्ठ समझते हैं और यह नहीं जानते कि इससे भी बढ़कर श्रेय है वे बड़े ही मूढ़ हैं। वे लोग स्वर्गलोक में पुण्य लूट चुकने पर इस लोक में अथवा और भी हीन लोक में जाते हैं।'

इसी का वर्णन ऐतरेय उपनिषद् में भी है—

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म।

—ऐतरेय, ४। ४

'उसका यह पुत्र रूप आत्मा पुण्य कर्म के लिये यहाँ उसका प्रतिनिधि होकर रहता है और उसका अन्य आत्मा अर्थात् वह स्वयं कृतकृत्य होकर, पुराना होने पर, चला जाता है। इस लोक से जाकर वह फिर जन्म लेता है। यह उसका तीसरा जन्म है।'

(पहला जन्म माता की कोख से हुआ, दूसरा जन्म पुत्ररूप से हुआ; इसी लिये "आत्मा वै जायते पुत्रः"—आत्मा का पुत्ररूप से उत्पन्न होना कहा गया है।)

प्रश्न उपनिषद् ने यही उपदेश अन्य रूप से दिया है—

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।

—प्रश्न, ५। ३-४

'यदि वह ओंकार की एक मात्रा का भी ध्यान करता है तो शीघ्र ही पृथ्वी में लौट आता है। समस्त ऋक्मंत्र उसे मनुष्यलोक में पहुँचा देते हैं। यहाँ पर वह तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर महिमा का अनुभव करता है। और यदि वह ॐकार की दो मात्राओं का ध्यान करता है तो यजुः मंत्र द्वारा अंतरिक्ष सोम लोक में पहुँचता है। वहाँ विभूति का अनुभव करके वह फिर यहीं लौट आता है।'

इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् का उपदेश भी हमारे ध्यान देने योग्य है—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।

तदेष श्लोको भवति।—

तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्।

तस्माल्लोकात्पुनरेतस्मै लोकाय कर्मणे॥—बृह, ४।४।५-६

'जिसका जैसा कार्य होता है, जैसा आचरण होता है, वह वैसा ही हो जाता है। अच्छे काम करनेवाला सज्जन होता है और बुरे काम करनेवाला पापी होता है। पुण्य कर्म द्वारा पुण्य होता है और पाप कर्म द्वारा पाप। जीव को 'काममय' कहा गया है। वह जैसी कामना करता है, वैसा ही उसका चिंतन हो जाता है। जैसा वह चिंतन करता है, वैसे ही कर्म करने लगता है। जैसे कर्म करता है उसके अनुरूप उसकी गति होती है।' इस संबंध में यह श्लोक प्रचलित है। 'उसका मन जहाँ पर लगा हुआ है वहीं पर वह कर्म द्वारा जा पहुँचता है।' इस लोक में उसने जो कर्म किया है उसका क्षय होने पर उसे फिर कर्म करने के लिये उस लोक से इस लोक में लौट आना पड़ता है।

इन स्पष्ट वचनों को अस्वीकार करके किस तरह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में जीव के जन्मांतर का उपदेश नहीं है ?

किंतु आक्षेप करनेवालों को उपनिषदों के प्रमाण से भी संतोष नहीं होता। वे कहते हैं—'हिंदू जाति के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में कहीं जन्मांतर का उल्लेख नहीं है; अतएव जन्मांतर-वाद वेद-विरुद्ध है।' यह आक्षेप करनेवालों को जानना चाहिए कि वेद से मतलब सिर्फ संहिता-भाग से नहीं है। वास्तव में वेद के दो भाग हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। कर्मकांड वेद का लक्ष्य अभ्युदय है और ज्ञानकांड वेद का लक्ष्य निःश्रेयस्। कर्मकांड वेद का फल स्वर्ग और ज्ञानकांड वेद का फल अपवर्ग या मुक्ति है। वेद के जिस अंश से कर्मकांड का प्रतिपादन होता है उसका नाम संहिता और ब्राह्मण, तथा जो अंश ज्ञानकांड का प्रतिपादक है उसका नाम आरण्यक और उपनिषद् है। अतएव वेद के चार विभाग हुए—संहिता और ब्राह्मण से तो कर्मकांड हुआ तथा आरण्यक और उपनिषद् से ज्ञानकांड। हमने अन्यत्र यह प्रतिपादन किया है कि वैदिक युग के आरंभ से भारतीय ऋषिसमाज में कर्मकांड के साथ ज्ञानकांड—मंत्र और ब्राह्मण के साथ आरण्यक तथा उपनिषद्—प्रचलित था*। अतएव इस स्थान पर उस विषय का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं।

---

* उपनिषद् (ब्रह्मतत्त्व) उपक्रमणिका।

वेद के संहिता-भाग में जन्मांतर का उल्लेख नहीं है, यह कहकर जन्मांतर-वाद को अवैदिक मान लेना ठीक नहीं है। क्योंकि वैदिक यज्ञों में जिन मंत्रों का व्यवहार होता था उन्हीं मंत्रों का संकलन वेद के संहिता-भाग में है। ऋषिसमाज में प्रचलित अध्यात्म ज्ञान-विज्ञान का संकलन-स्थान वेद की संहिता नहीं है। वैदिक युग के ऋषि-समाज में जो ब्रह्मतत्त्व, जड़तत्त्व और जीवतत्त्व प्रभृति का तत्त्व-उपदेश प्रचलित था वह सब तत्त्व-उपदेश परवर्ती काल में वेद के आरण्यक और उपनिषद भाग में ही संकलित हुआ था। जीव की उत्क्रांति, जीव की परलोक-गति और जीव का अन्य जन्म आदि आध्यात्मिक ज्ञान यथास्थान ही संकलित किया गया है। इनका प्रकृत संकलनस्थान उपनिषद् ही है—संहिता नहीं। अतएव संहिता में जन्मांतर का उल्लेख न देखकर जन्मांतर-वाद को वेद-विरुद्ध कह देना ठीक नहीं। टाड हंटर का बीजगणित महारानी विक्टोरिया के जीवन-काल में संकलित हो गया था, किंतु उसमें विक्टोरिया का उल्लेख नहीं है। इससे क्या हम यह सिद्धांत कर लेंगे कि विक्टोरिया नाम की किसी रानी ने इँगलैंड में कभी राज्य किया ही नहीं ? राजा-रानी का हाल तो इतिहास-ग्रंथों में होगा, भला गणित में उसके लिये स्थान कहाँ ? इतिहास की पुस्तकों में यदि विक्टोरिया का नाम न हो तो उन्हें काल्पनिक माना जा सकता है; किंतु बीज-गणित में उनके उल्लेख

की आशा करना ठीक नहीं है। वेद का संहिता-भाग मंत्रों का संकलन-स्थल है। उसमें जन्मांतर-वाद प्रभृति अध्यात्म-तत्त्वों का उल्लेख क्योंकर मिल सकता है?

दूसरी बात, उपनिषदों की आलोचना करने से मालूम होता है कि मुद्दत तक यह जन्मांतर-वाद गोपनीय रहस्य समझा जाता था और साधारण जनता में इसके प्रचार की आज्ञा न थी। बहुत समय तक यह जन्मांतर-तत्त्व तत्त्वदर्शी राजर्षियों के संप्रदाय में ही निबद्ध था। इस तत्त्व का नाम 'पंचाग्निविद्या' था। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् के देखने से इस विषय में संदेह नहीं रह जाता। छान्दोग्य उपनिषद् का विवरण इस प्रकार है—

किसी समय अरुण के पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की परिषद में पहुँचे। वहाँ क्षत्रिय राजा प्रवाहण जैबलि ने उनसे जीव की उत्क्रांति, परलोक-गति और जन्मांतर के संबंध में, एक के बाद एक, पाँच प्रश्न किए। किंतु श्वेतकेतु उन प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे सके। इससे बहुत ही लज्जित होकर श्वेतकेतु ने अपने पिता अरुण के पास आकर उनसे इन पाँचों प्रश्नों का उत्तर माँगा। पिता ने कहा, इन्हें तो हम भी नहीं जानते। तब बाप और बेटा, दोनों ही, राजा जैबलि के पास गए और श्वेतकेतु के पिता ने राजा से कहा—"आपने मेरे लड़के से जो प्रश्न किए थे उनका उत्तर दीजिए।"

स ह कृच्छ्री बभूव। तं ह चिरं वस इत्याज्ञापयाञ्चकार। तं होवाच

यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति ।

अर्थात् गौतम की प्रार्थना सुनकर राजा चिंतित हुए। उन्होंने ऋषि से कुछ समय तक ठहरने के लिये कहा। फिर कहा 'हे गौतम! आप हमसे जो विद्या सीखना चाहते हैं वह विद्या आपसे पहले किसी ब्राह्मण को प्राप्त नहीं हुई है।' फिर राजा ने गौतम को उस गोपनीय पंचाग्नि-विद्या का उपदेश कर दिया। उन्होंने रूपक की भाषा में यह बतलाया कि जीव किस प्रकार स्वर्गलोक से मेघ द्वारा बरसकर पृथ्वी पर आता और फिर पिता की देह में प्रविष्ट होकर माता की कोख में पहुँचता है—

स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव मासान् अंतःशयित्वा यावद् वाथ जायते।

—छांदोग्य, ५।९।१

'वही जीव उल्वावृत दशा में दस या नव महीने गर्भ में शयन करने के अनंतर जन्म ग्रहण करता है।' फिर जितनी आयु होती है उतने दिन तक पृथिवी में रहकर कर्मानुसार या तो देवयान मार्ग से उत्तर मार्ग में, या पितृयान मार्ग से दक्षिण-मार्ग में उत्क्रांत होता है। जो जीव देवयान मार्ग से जाता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता। किंतु जो पितृयान मार्ग से स्वर्ग प्रभृति लोकों में जाता है उसे पूर्व-निर्दिष्ट क्रम से फिर माता की कोख में आना पड़ता है। वह पिछले जन्म में जैसे

कर्म कर चुका है उनके अनुसार या तो उत्तम योनि में जन्म लेता है या अधम योनि में।

तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिं आपद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिं आपद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

—छान्दोग्य, ५ । १० । ७

'सुकृत-आचरण करनेवालों का जन्म शुभ योनि में होता है, ब्राह्मण या क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि में। दुष्कृत का आचरण करनेवालों का जन्म अशुभ योनि में होता है, कुत्ता, सूअर अथवा चंडाल की योनि में।'

बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में भी इस पंचाग्नि विद्या का उपदेश है—

इयं विद्या इतः पूर्वं न कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे उवास। तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि।

—बृह, ६ । २ । ८

इस विद्या के उपदेशक राजर्षि कह रहे हैं कि 'इस विद्या को इससे पहले कोई ब्राह्मण नहीं जानता था। उसी विद्या का उपदेश मैं तुमको करता हूँ।'

जो विद्या, जो जन्मांतर-वाद इस प्रकार गोपनीय रहस्य समझा जाता था उसका उल्लेख यज्ञ के काम में आनेवाले मंत्रों के संग्रह में न रहे तो कुछ विचित्रता नहीं। इसलिये

क्या जन्मांतर-वाद को वेद-विरुद्ध कह देना ठीक है ? अतएव हमें जन्मांतर के संबंध में हिंदूशास्त्र से यथेष्ट प्रमाण मिल गए।

जन्मांतर के संबंध में हिंदू शास्त्र का उपदेश हमने पढ़ लिया। अन्यान्य धर्मों के प्रामाणिक शास्त्रों में इस संबंध में कैसा क्या उपदेश पाया जाता है ? पारसियों के धर्मशास्त्र "देसात्तिर" ग्रंथ में लिखा है कि मनुष्य को इस जीवन में जो दुःख और शोक का अनुभव होता है उसका कारण पूर्वदेहकृत वाक्य या कर्म है। न्यायपरायण विधाता इस प्रकार उनके लिये दंड की व्यवस्था करते हैं*।

शायद यह तो सभी जानते होंगे कि बौद्ध धर्म में जन्मांतरवाद का उपदेश विशेष रूप से है। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है कि बौद्धधर्ममंदिर की नींव यही जन्मांतरवाद है। कहा जाता है कि जब बुद्धदेव बोधिवृक्ष के नीचे संबोधि को प्राप्त करके जन्म-मृत्यु से अतीत अवस्था में पहुँच गए तब उन्होंने यह गाथा पढ़ी थी—

अनेकजातिसंसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसंतो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥ ८ ॥

---

* Those who, in the season of prosperity, experience, pain and grief, suffer them on account of their words or deeds in a former body, for which the Most Just now punisheth them.

(The Desatir, The book of the prophet, the great Abad.)

गहकारक ! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं ॥
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥ ६ ॥

—धम्मपद

'देहरूप घर के बनानेवाले को ढूँढ़ते ढूँढ़ते, उसे बिना पाए ही, कई बार जन्म लिया है; कई संसारों में भटक चुका हूँ । बार बार जन्म लेना बड़ा ही दुःखदायक है । हे घर बनाने-वाले! इस बार तुम्हें देख लिया है, अब तुमको घर न बनाने देंगे । तुम्हारे सब फंदे टूट गए हैं, गृहकूट नष्ट हो गया है । मेरे निर्वाण-गत चित्त में अब तृष्णा नाम लेने को भी नहीं है ।'

बौद्धों के प्रधान धर्मग्रंथ 'धम्मपद' में अनेक स्थानों पर जन्मांतर का उल्लेख आया है । धम्मपद के २४ वें अध्याय का (जिसका नाम तण्हावग्ग है) प्रथम श्लोक यह है—

मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय ।
सो प्लवती हुराहुरं फलमिच्छं व वनस्मिं वानरो ॥१॥

'जिसका चित्त प्रमत्त है उस मनुष्य की तृष्णा 'मालवा' की लता की तरह बढ़ती है । वन में फल ढूँढ़नेवाला बंदर जिस प्रकार प्रतिदिन एक वृत्त से दूसरे वृत्त पर कूदता रहता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति का भी बार बार जन्म होता है ।'

किंतु इस जन्मांतर-धारा का विराम है, इस संसार-चक्र की निवृत्ति है । इसी विराम-सिद्धि के लिये बुद्धदेव ने अष्टांग आर्यमार्ग का उपदेश दिया था ।

मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहेसि ॥ १५ ॥

'सामने, पीछे और मध्य में जो कुछ है उसका त्याग करो; त्याग करके उस पार चले जाओ। सब तरह से विमुक्त-चित्त हो जाने पर जरा और जन्म से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा।'

निट्ठंगतो असंतासी वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिद भवसल्लानि अंतिमोऽयं समुस्सयो ॥ १८ ॥

—धम्मपद का तन्हावग्ग

'वीततृष्ण पापहीन निष्ठायुक्त व्यक्ति संसार रूप शल्य का त्याग कर देते हैं। उनकी यह देह अंतिम है—उनका दुबारा जन्म न होगा।'

प्रचलित ईसाई धर्म में दूसरे जन्म के लिये स्थान नहीं है; किंतु ईसाई धर्म जिस समय सजीव था, जिस समय ईसाई उपदेशक लोग सचमुच ईसाइयों के पितृस्थानीय थे और जिस समय उनका नाम Christian Fathers था, उस समय वे स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म का उपदेश करते थे। जिरोम (Jerome) और ओरिजेन (Origen) प्रभृति की रचना में ऐसा उपदेश मिलता है*। यद्यपि स्वयं ईसा की उक्ति में

---

* Is it not more in conformity with reason that every soul for certain mysterious reasons (I speak now according to the opinion of Pythagoras and Plato and Empedocles

जन्मांतर का उपदेश स्पष्ट भाषा में नहीं है फिर भी इशारे से इसका उपदेश दिया जाना पाया जाता है। ईसा से कुछ ही पहले जॉन दि बैपटिस्ट (John the Baptist) नामक एक व्यक्ति का आविर्भाव हुआ था। उषा से जिस प्रकार सूर्य की पूर्वसूचना मिलती है उसी प्रकार ये ईसा के आगमन के पूर्व-सूचक थे। इनके संबंध में उस समय के यहूदी-समाज में बहुत वितर्क हुआ था। ईसा मसीह ने शिष्यों से एकाधिक बार इशारे से कहा था कि यहूदियों के पिछले युग के धर्म-शिक्षक इलायास (Elias) जान के रूप में आविर्भूत हुए थे। इस संबंध में बाइबिल के जो वचन हैं उनको हम यहाँ पाद-टिप्पणी में उद्धृत करते हैं। इन वचनों के देखने से इस विषय में कुछ संदेह नहीं रह जाता* ।

---

whom Celus frequently names), is introduced into a body and introduced according to its deserts and former actions? —Origen. Contra Celscea 1, xxxii.

If we examine the case of Esau, we may find he was condemned because of his ancient sins in a worse course of life. —Jerome's letter to Aritus.

* When Jesus came into the coasts of Caesarea Philippi, He asked his disciples, saying 'Whom do men say that I, the Son of Man, am ?' And they said : "Some say that Thou art John the Baptist ; some, Elias and others Jeremias, or one of the prophets"—S. Matthew, xvi 13, 14.

And His disciples asked Him saying : "Why then say the scribes that Elias must first come ?" And Jesus answered and said unto them : "Elias truly shall first come and restore all things. But I say unto you, that

मुसलमानों के धर्मग्रंथ कुरान में दो-एक जगह जन्मांतर का अस्पष्ट इंगित है। एक स्थान पर हजरत मुहम्मद कहते हैं—'खुदा जीवों को उत्पन्न करके वारंवार संसार में भेजता है, जब तक कि वे उसके समीप नहीं लौट जाते* ।' क्या इसे जन्मांतर का इंगित कहना अनुचित होगा?

मुसलमानों में एक ध्यानी साधक संप्रदाय 'सूफी' है। ये वेदांती मुसलमान हैं। इस पंथ में तो जन्मांतर के संबंध में सुस्पष्ट उपदेश प्रचलित है। इस पंथ के एक प्रधान आचार्य जलालुद्दीन रूमी हो गए हैं। उन्होंने अपने 'मसनवी' ग्रंथ में जीव के विवर्तन का वर्णन बड़ी सुंदरता से किया है। वे कहते हैं, जीव पहले स्थावर होकर जन्म लेता है; वहाँ से विवर्तन गति के अनुसार वह उद्भिज हो जाता है। कई युगों तक उद्भिज की देह में रह लेने पर वह पशुयोनि में प्रवेश करता है। वहाँ से विवर्तन गति द्वारा वह मनुष्य होता है; किंतु यहीं पर उसकी ऊद्ध्र्व गति नहीं रुक जाती। वह धीरे धीरे उन्नत होकर देवता बन जाता है; परंतु मनुष्य की चरम सीमा कुछ देवत्व ही नहीं है। अंत में वह भगवान् के साथ जा मिलता

Elias is come already, and they know him not, but have done unto thim whatsoever they list. Likewise shall also the Son of Man suffer of them." Then the disciples understood that he spoke unto them of John the Baptist.-S. Matthew, xvii, 10-13.

* God generates beings and sends them back over and over till they return to Him —Al Quran, xxx—1.

है। उस समय उसकी जो महिमा प्रतिष्ठित होती है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती* ।

अतएव हमने देख लिया कि सभी प्राचीन धर्मों में जन्मांतर का उपदेश वर्तमान है। कहीं पर यह उपदेश सुस्पष्ट है और कहीं पर अस्पष्ट। जो ऋषि या ऋषितुल्य महात्मा धर्म की स्थापना करते हैं वे देश-काल-पात्र के अनुसार उपदेश का तारतम्य रखते हैं; इसी से जन्मांतर का उपदेश किसी धर्म में अस्पष्ट है और किसी में सुस्पष्ट।

यहाँ तक देख लिया गया कि शास्त्रों में जन्मांतर के संबंध में कैसे क्या प्रमाण पाए जाते हैं। अब अगले अध्याय में यह देखेंगे कि युक्ति द्वारा, अनुमान की सहायता से, जन्मांतर किस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है।

---

* I died from the mineral, and became a plant.
I died from the plant, and re-appeared in an animal.
I died from the animal, and became a man.
Wherefore then should I fear?
When did I grow less by dying?
Next time I shall die from the man
That I may grow the wings of the Angel.
From the Angel too must I seek advance.
All things shall perish save His face.
Once more shall I wing my way above the Angels;
I shall become that which entereth not the imagination.
Then let me become naught, naught.
For the harpstring
Crieth unto me: "Verily unto Him shall we return."
—Jalal-ud-din Rumi's Masnavi, iv.

द्वितीय अध्याय

दार्शनिक युक्ति

दूसरा जन्म—जन्मांतर—होने का प्रमाण क्या है? हमने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि प्रमाण तीन प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम या आप्तवाक्य। हम पिछले अध्याय में बतला आए हैं कि सभी जातियों के धर्मशास्त्र में जन्मांतर का उपदेश किस रूप में है—प्रत्येक धर्म के प्रवर्तक अथवा प्रचारक ऋषियों और महात्माओं ने किस प्रकार सम स्वर से जन्मांतर-तत्त्व का प्रचार किया है। अब हम उन युक्तियों को ढूँढ़ेंगे जिनसे जन्मांतर होना सिद्ध होता है और इन युक्तियों द्वारा जन्मांतर-वाद को अनुमान-सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे।

हमारा दर्शनशास्त्र युक्तियों का खजाना है। पहले हम देखेंगे कि इन खजानों में कौन कौन सी युक्ति-मणियाँ निहित हैं जिनसे जन्मांतर होना सिद्ध होता है। फिर हम पता लगावेंगे कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से जन्मांतर के अनुकूल कैसी युक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है।

जगत् की ओर ध्यान देने से हमको मालूम होता है कि इसमें विषमता ही विषमता है—एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में बहुत ही विभिन्नता है। मनुष्यों में सिर्फ दशा और भोग का

ही प्रभेद नहीं है बल्कि प्रवृत्ति, प्रकृति और सुयोग के कारण भी यथेष्ट प्रभेद पड़ जाता है। कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई धनी है, कोई दरिद्र है, कोई जन्म से ही सम्पत्ति की गोद में पला है और किसी ने अपनी जिन्दगी दरिद्रता में बिताई है; किसी ने जिन्दगी में यह जाना ही नहीं कि दुःख या बेचैनी कैसी होती है और किसी का दुःख-दुर्दशा ने जन्म भर साथ नहीं छोड़ा; कोई तो जन्म से ही आधि-व्याधियों के पंजे में फँसा हुआ है और कोई मरते दम तक भला चंगा बना रहा। यही क्यों, कोई ऐसे परिवार, ऐसे समाज में उत्पन्न हुआ जहाँ सद्भाव और सदाचार की हवा सदा चलती रहती है, धर्म और नीति का प्रभाव निरंतर बना रहता है; और कोई जन्म से ही दुर्गंध से जर्जरित, सत्संग से हीन और सहाय-संपत्ति-विहीन है; कोई तो ध्रुव और प्रह्लाद की तरह जन्मसिद्ध हरिभक्त हैं और कोई हैं चार्वाक के मंत्रशिष्य नास्तिक-शिरोमणि—जिन्हें ईश्वर का नाम सुनने से ही कर्णज्वर चढ़ आता है; कोई तो ऐसे शांत, शिष्ट, मधुर और मिलनसार उत्पन्न होते हैं कि हजार प्रलोभनों और अशुभ घटनाओं की चपेट से भी उनका स्वभाव मलिन नहीं हो सकता; और कोई जन्म से ही पापी (Congenital criminal) पाप-प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है, उसके हाड़-मांस में पाप भिदा रहता है, सैकड़ों प्रकार की नैतिक चिकित्सा के प्रयोग से भी उस पाप-रोग का उपशम नहीं होता। किसी की बुद्धि बहुत ही मोटी होती है, मास्टर

की मार खाने पर भी उसके कठोर मस्तिष्क के भीतर क-ख प्रवेश नहीं कर सकता; कोई अच्छा बुद्धिमान् होता है (कालिदास की भाषा में) जिसे सारी विद्याएँ इस तरह अनायास आ जाती हैं जिस तरह शरत्काल में हंसों की कतार अपने आप गंगा पर आ जाती है। ऐसा क्यों होता है ? यदि इस जगत् की रचना किसी दैत्य ने की होती, इस जगत् का प्रभु ईश्वर के बदले शैतान होता तो यह प्रश्न न उठता। किंतु इस सृष्टि की रचना तो ईश्वर ने ही की है—वे दयासागर हैं। अतएव उन्होंने सबको एक सा क्यों नहीं बनाया ? भोग, सुख, बुद्धि और धर्म पर उन्होंने सबको एक सा अधिकार क्यों नहीं दिया ? हैं तो वे सर्वशक्तिमान्। अतएव उनमें शक्ति की कमी नहीं हो सकती। और जब वे दयासागर हैं तब मनुष्य को सुखी रखने की प्रवृत्ति का अभाव भी उनमें नहीं हो सकता। अतएव प्रवृत्ति और शक्ति दोनों के होते हुए भी ईश्वर ने जगत् की रचना करने में विषमता को स्थान क्यों दिया ? तो क्या ईश्वर पक्षपाती हैं ? उन्होंने पक्षपात करके क्या किसी को भला और किसी को बुरा बना दिया है ? यह भी तो सम्भव नहीं, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है—"मेरे लिए सभी जीव एक से हैं, न तो मुझे कोई प्रिय है और न अप्रिय।"

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

—गीता, ६। २६

तब इस विषमता का समाधान किस प्रकार होगा ?

जो लोग जीव का पूर्वजन्म नहीं मानते, जो लोग आधुनिक ईसाइयों की तरह यह विश्वास करते हैं कि पृथिवी पर जितने जीव उत्पन्न हुए हैं या हो रहे हैं वे सभी ईश्वर की नई सृष्टि हैं अर्थात् जिनकी यह धारणा है कि इस जन्म से पहले उस जीव की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी उनके लिये जगत् की इस विषमता का निर्णय करना बहुत ही कठिन है। जो नास्तिक या जड़वादी हैं, जिनकी राय में देह के सिवा आत्मा का अस्तित्व नहीं है और जो लोग जगत् को जड़ परमाणुओं का आकस्मिक संघात समझते हैं, वे अवसर (Chance) के सिर पर दोषों की गठरी लादकर निश्चिंत हो सकते हैं; किंतु जो आस्तिक हैं, जो लोग आत्मा को अजर-अमर मानते हैं और इस जगत् के नियंता एक परमात्मा के अस्तित्व में जिन्हें श्रद्धा है वे इस विषमता की कैसी मीमांसा करेंगे ? आस्तिक मात्र ही ईश्वर को करुणामय और सर्वशक्तिमान् मानेगा। ईश्वर जब कि करुणामय और सर्वशक्तिमान् हैं तब उन्होंने जीवों के बीच ऐसा भेद किसलिये किया ? तब उन्होंने जीव के भोग, जीव की प्रकृति और जीव के आचरण में ऐसी विषमता का विधान किसलिये किया ?

हम देख चुके हैं कि पाश्चात्य दार्शनिक इस वैषम्य की कोई संतोषजनक मीमांसा नहीं कर सके हैं। कैंट, न्यूमैन प्रभृति, जिन्होंने यह प्रश्न किया है, कहते हैं कि जब पुण्य का

फल सुख और पाप का फल दुःख है—यही जगत् की नैतिक धारा है; और जब देख पड़ता है कि पुण्यवान् कई बार दुःख भोगता और पापी मौज से गुलछर्रे उड़ाता है और जब कि एक जीव से दूसरे जीव में—इस संसार में- इतनी विषमता देख पड़ती है तब परलोक में अवश्य ही न्यायवान् विधाता इस वैषम्य की समता का विधान करेंगे, सुख-दुःख के सामंजस्य को ठीक करेंगे। जगत् की वैषम्य-समस्या का यह उत्तर क्या ठीक है?

आर्य ऋषियों ने इस प्रश्न की मीमांसा दूसरे ही ढँग से की है। उनका कहना है कि आत्मा अजर, अमर, नित्य और सनातन वस्तु है। वही आत्मा, जीव रूप से, इस जगत् में वारंवार जन्म ग्रहण करता है। इस लोक में कर्म करके, देहांत होने पर, जीव परलोक में जाकर ठहरता है। वहाँ का भोग पूरा हो चुकने पर वह फिर पृथिवी में आकर दूसरा शरीर ग्रहण करता है। इसी का नाम जीव का पुनर्जन्म है। जीव का यह कुछ पहली ही बार जन्म नहीं हुआ है, बल्कि इससे पहले भी उसके बहुत से जन्म हो चुके हैं और आगे भी बहुतेरे जन्म होंगे। जीव इस जन्म में जिस प्रकार पाप-पुण्य के कार्य करता है, जैसी शुभ या अशुभ वासना को चित्त में स्थान देता है, जैसे सुविचार या कुविचार किया करता है उसी प्रकार पिछले जन्मों में भी वह करता रहा है। पिछले जन्मों में सोचे हुए विचारों, वासनाओं और क्रिया के फल से उसके इस

जन्म की प्रकृति और भोग का नियमन हुआ है; अर्थात् उसने जैसा कर्म किया है वैसा ही फल उसको मिला है। इस विषय में न तो ईश्वर का कोई पक्षपात है और न करुणा का अभाव ही है। भगवान् ने तो कर्म के अनुसार फल की व्यवस्था की है। पूर्वजन्मकृत चिंतन, वासना और चेष्टा के द्वारा ही जीव अपने इस जन्म को नियमित करता है। (१) चिंतन के संबंध में छांदोग्य उपनिषद् का वचन है—

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति।—छांदोग्य, ३। १४। १

अर्थात् 'जीव भावनात्मक है; इस जीवन में वह जैसी भावना किया करता है वैसा ही देहांत होने पर हो जाता है।'

अतएव यह निश्चय है कि हम जैसा कुछ चिंतन करते हैं, वही हो जाते हैं*। यदि हम सत्य के, पुण्य के विषय का चिंतन करते हैं तो सत्यशील, पुण्यशील होते हैं। यदि हमारी भावना पवित्र, शुद्ध और शुचि होती है तो हम पवित्र, शुद्ध और शुचि होते हैं। असल बात यह कि यदि हम बुरे विचारों का चिंतन करते हैं तो बुरे बन जाते और अच्छे विचारों को सोचते हैं तो भले हो जाते हैं।

अतएव हमारा स्वभाव (जिसके अनुसार हमारा आचार निरूपित होता है) हमारी भावना द्वारा गठित होता है। इस

---

* The mental faculties of each successive life are made by the thinkings of the previous lives.

नियम का फल यह होता है कि इस जन्म में हमारा जो चरित्र और मानसिक प्रकृति है वह हमारे पिछले जन्मों की भावना का फल है।

(२) वासना या कामना है। जीव जो कामना करता है, तो जहाँ पर वह कामना की वस्तु होती है, वहीं जीव को जाना पड़ता है। अर्थात् वह जो कुछ चाहता है वही उसे मिल जाता है। इसलिये उपनिषद् का वचन है—

स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्।—बृहदारण्यक, ४। ३। १२

'वह अमृत (अविनाशी जीव) वहीं जाता है जहाँ उसकी कामना की वस्तु होती है।'

कामान् यः कामयते मन्यमानः।

स कामभिर्जायते तत्र तत्र॥—मुंडक, ३। २। २

'सकाम व्यक्ति जो कामना करता है वहीं पर वासना के द्वारा जन्म ग्रहण करता है।'

अर्थात् जीव की वासना, राग और द्वेष का आकार धारण करने पर, अन्य जीव के साथ उसका संबंध जोड़ देती है। जिस पर प्रबल अनुराग या विराग होता है उसके साथ अगले जन्म में उसका संबंध स्थापित हो जाता है।

(३) चेष्टना है। हम जैसा कर्म करते हैं वैसा ही फल पाते हैं। जैसा बीज बोया जाता है वैसी ही फसल होती है। बबूल के बीज बोकर आम के फल पाने की आशा क्या दुराशा नहीं है? इसी भाव का वर्णन उपनिषद् ने किया है—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।—बृह०, ४।४।५

इसका अर्थ पीछे लिखा ही जा चुका है।

सार यह है—

यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।

'जो जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है।'

यदि किसी ने पिछले जन्म में दूसरे को सुखी किया है तो वह भी इस जन्म में सुख भोगता है। किंतु यदि उसने दूसरे को दुःख दिया है तो इस जन्म में उसे भी दुःख सहना होगा। यही कर्म का विपाक है। इस प्रसंग में पतंजलि ने कहा है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।—योगसूत्र, २। १३

कर्म का विपाक तीन प्रकार का होता है—जाति, आयु और भोग। पिछले जन्म में किए हुए कर्म पर यह निर्भर है कि जीव किस देश में किसके घर उत्पन्न होगा, उसकी आयु कितनी होगी, उसको कैसा सुख-दुःख मिलेगा, उसकी जीवन-यात्रा के उपकरण किस प्रकार के और कितने होंगे तथा उसकी देह का स्वास्थ्य और स्वाच्छन्द्य कैसा क्या रहेगा। यही पिछले जन्मों की मोटी सी बात हुई। जगत् के वैषम्य को समझने के लिये ऐसा बढ़िया मत दूसरा नहीं है। इस संबंध में महर्षि बादरायण ने वेदांतसूत्र में यह सिद्धांत किया है—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।

—ब्रह्मसूत्र, २। १। ३४

नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः । वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन् । कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः करोति पश्वादीन् । कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीन् इत्येवं विषमां सृष्टिं निर्माणस्येश्वरस्य पृथग् जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः । * * तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः । वैषम्य-नैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते । कस्मात् ? सापेक्षत्वात् । यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च । न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति । सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत् । धर्माधर्मौ अपेक्षत इति वदामः । अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः । * * * देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येव असाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति ।—शाङ्करभाष्य ।

अर्थात् 'ईश्वर कभी जगत् का कारण नहीं हो सकता । क्यों ? क्योंकि यदि वह जगत् का कारण हो तो उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य (निष्करुणता) का प्रसंग आता है । ईश्वर ने किसी को अत्यंत सुखभोगी किया है, जैसे देवता इत्यादि; किसी को अत्यंत दुःखभोगी किया है, जैसे पशु आदि; किसी को थोड़ा सा सुखी और थोड़ा सा दुखी कर दिया है, जैसे मनुष्य आदि । जगत् में ऐसी विषमता-पूर्ण सृष्टि करके ईश्वर साधारण मनुष्य की तरह राग-द्वेष के अधीन जँचता है । अतएव ईश्वर को जगत् का कारण इसलिये नहा माना जा

सकता कि उस पर वैषम्य (पक्षपात) और नैर्घृण्य (निष्करुणता) की तुहमत आती है। इस आपत्ति पर यह वक्तव्य है कि ईश्वर पर वैषम्य और नैर्घृण्य का प्रसंग उठ ही नहीं सकता; क्योंकि वह तो सापेक्ष होकर (जीव के कर्म की अपेक्षा करके) सृष्टि-रचना करता है। यदि निरपेक्ष होकर, किसी की कुछ अपेक्षा न करके, ईश्वर विषम सृष्टि का निर्माण करता तो उस पर वैषम्य और नैर्घृण्य का आरोप हो सकता। ईश्वर ने तो सापेक्ष होकर ही विषम सृष्टि की रचना की है। तो कैसी अपेक्षा करके ? जीव के धर्माधर्म की अपेक्षा करके। अतएव विषम सृष्टि के लिये सृज्यमान प्राणियों का धर्माधर्म ही कारण है। इसमें ईश्वर का तिल भर भी अपराध नहीं है। देवता, मनुष्य आदि में जो विषमता देख पड़ती है उसका कारण उन जीवों का पिछले जन्म में किया हुआ कर्म है। ईश्वर जब सापेक्ष होकर सृष्टि की रचना करता है तब जगत् की विषमता के लिये वह पक्षपात और निष्करुणता का दोषी नहीं हो सकता।'

अब यह आपत्ति हो सकती है कि ऐसी युक्ति के द्वारा यद्यपि उस विषमता की मीमांसा हो गई जो कि संप्रति संसार में देख पड़ती है, किंतु सृष्टि के आरंभ में जगत् में क्यों वैषम्य था ? इसका क्या उत्तर है ? इस जन्म का जीव का भोग तो उसके पिछले जन्म की कमाई है। उस पिछले जन्म का भोग उससे भी पिछले जन्म की कमाई है; किंतु जन्म का भी तो आखिर आदि होगा ? जीव का जो सबसे पहला जन्म

रहा होगा, उस जन्म के पहले कर्म कहाँ था जिसकी अपेक्षा करके ईश्वर ने विषम सृष्टि का विधान कर दिया ? इस आपत्ति की मीमांसा बादरायण सूत्र में की गई है—

अविभागात् इति चेत् न अनादित्वात्—ब्रह्मसूत्र २।१।३५

नैष दोषः, अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यदि आदिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजांकुरवत् हेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुद्धते।—शाङ्करभाष्य।

अर्थात् 'संसार जब अनादि है तब वर्तमान सृष्टि से पहले असंख्य बार सृष्टि हो चुकी है और आगे भी इसी प्रकार होती रहेगी। अब यह आपत्ति निराधार है। अंकुर से बीज होता और बीज से फिर अंकुर निकलता है। इसी प्रकार कर्म से सृष्टि होती और सृष्टि के लिये कर्म होता है। सृष्टि जब अनादि है तब प्रथम सृष्टि की खोज करना निरी विडंबना है। हम किसी सृष्टि की छान-बीन क्यों न करें, उससे पहले अन्य सृष्टि विद्यमान थी और उसकी पूर्वतन सृष्टि में जीव ने जो कर्म किया था उसके फल-स्वरूप अगली सृष्टि में विषमता का विधान हुआ है।'

सांख्य दर्शन में भी प्रसंगतः जन्मांतर की चर्चा छेड़ी गई है; किंतु इस मत के समर्थन के लिये कोई विशेष युक्ति नहीं दी गई है। ईश्वरकृष्ण ने ४०वीं कारिका में कहा है—

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।

इसके भाष्य में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

कृतं दृश्यमानेन षाट्कौशिकेन शरीरेण इत्यत आह संसरति इति। उपात्तम उपात्तं षट्कौशिकं शरीरं जहाति हायं हायमुपादत्ते।

अर्थात् 'लिंग शरीर वारंवार स्थूल शरीर को धारण करता है और उन गृहीत शरीरों को छोड़ता रहता है। इसका नाम संसरण है।'

फिर ४२वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

नटवत् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्।

वाचस्पति मिश्र इसका भाष्य करते हैं—

यथा हि नटः तां तां भूमिकां विधाय, परशुरामो वा अजातशत्रुर्वा वत्सराजो वा भवति, एवं तत् तत् स्थूलशरीरग्रहणात् देवो वा मनुष्यो वा पशुर्वा वनस्पतिर्वा भवति सूक्ष्मं शरीरम्।

अर्थात् 'नट जिस प्रकार रंगभूमिका ग्रहण करके कभी परशुराम, कभी अजातशत्रु और कभी वत्सराज के रूप में दर्शकों को देख पड़ता है उसी प्रकार लिंग या सूक्ष्म शरीर, भिन्न भिन्न स्थूल शरीर ग्रहण करके, देवता-मनुष्य-पशु या वनस्पति के रूप में प्रतिभात होता है।'

पतंजलि ऋषि ने जन्मांतर को सिद्ध करने के लिये योग-दर्शन में और ही प्रकार की युक्ति दी है। सभी लोग जानते हैं कि योग का उद्देश्य चित्त की वृत्ति को रोकना है। इसके लिये, प्रसंग पर, पतंजलि ने चित्त का विश्लेषण किया है। वे कहते हैं कि जीव के चित्त में पाँच प्रकार के सहजात " क्लेश " संस्कार रूप में निहित देखे जाते हैं। ऐसा कोई

चित्त ही नहीं है जिसमें इस पंचविध क्लेश का बीज निहित न हो। पाँच प्रकार के इन क्लेशों का नाम है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अभिनिवेश क्लेश का लक्षण पतंजलि यह देते हैं—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। २। ९

स्वरसवाहीति। स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुकः।—वाचस्पति मिश्र।

'विज्ञ और अज्ञ सभी के लिये जो स्वाभाविक (स्वरसवाही) मरण-भय है उसे अभिनिवेश कहते हैं।' पतंजलि का कथन है कि 'यह मरण-भय सर्वसाधारण है, यह स्वरसवाही अर्थात् आगंतुक नहीं—स्वाभाविक है।' इस अभिनिवेश को विज्ञान की भाषा में Instinct of Self-preservation कहते हैं। सिर्फ मनुष्य में ही नहीं, बल्कि निम्न श्रेणी के साधारण जीव में भी यह Instinct जाज्वल्य रूप से वर्तमान है। प्राणिसाधारण का यह अभिनिवेश या मरण का त्रास कहाँ से आया? पतंजलि के इस सूत्र के व्यासभाष्य में इस प्रश्न का उत्तर पाया जाता है—

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, 'मा न भूवं भूयासमिति।' न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः, एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशक्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। यथा चायमत्यंतमूढेषु दृश्यते

क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरांतस्य रूढः, कस्मात् ? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोः मरणदुःखानुभवादियं वासनेति।

अर्थात् "प्राणिमात्र की अपने विषय में यह प्रार्थना देखी जाती है कि 'मेरी मौत न हो, मैं जीता-जागता रहूँ।' जिसने कभी पहले मृत्यु का अनुभव नहीं किया है उसका ऐसी प्रार्थना करना असंभव है। ऐसी प्रार्थना से पूर्व जन्म प्रमाणित होता है। यह अभिनिवेश (मरणभयरूप संस्कार) स्वाभाविक है। कृमि-कीट में भी, जो अभी अभी पैदा हुआ है, यह मौत का डर देखा जाता है। कृमि-कीट के लिये यह मरने का डर— 'मैं मर न मिटूँ' यह भाव—प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम किसी के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उस प्राणी ने अवश्य ही पिछले जन्म में मृत्यु के दुःख का अनुभव किया था, इसी से उसको इस जन्म में मरने का डर बना हुआ है। यह मौत का डर जिस प्रकार अत्यंत मूढ़ प्राणी में देखा जाता है उसी प्रकार तत्ववेत्ता, विद्वान् व्यक्ति में भी पाया जाता है, अर्थात् यह सबको है। मूर्ख या पंडित सभी को मरणदुःखानुभव-जन्य यह संस्कार है।"

पतंजलि अन्यत्र कहते हैं—

'तासामनादित्वम्, आशिषो नित्यत्वात्।'—४।१०

'सबका यह आत्माशीर्वाद है,' 'हमारी मौत न हो,' इससे मालूम होता है कि 'ऐसा संस्कार अनादि है'। इस सूत्र का व्यासभाष्य यह है—

तासां वासनानां आशिषो नित्यत्वादनादित्वम्, येयमात्माशीः मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी, कस्मात्, जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्, न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते।

अर्थात् 'सभी का जब यह नित्य-आशीर्वाद है कि 'हमारी मृत्यु न हो' तब समझना होगा कि यह संस्कार अनादि है। किंतु यह स्वाभाविक नहीं, निमित्त-जन्य है। जन्म होते ही जीव में यह मरण-भय देखा जाता है। यदि उसने पिछले जन्म में मरण के दुःख का अनुभव न किया होता और यदि उसे दुःख का संस्कार स्मृति रूप में इस जन्म में न बना होता, तो उसे मरने का डर जन्म से ही कभी न होता,—इत्यादि।' इस प्रकार पतंजलि ने योगदर्शन में जन्मांतर की साधक युक्ति दी है।

अब हम न्यायदर्शन से जन्मांतर की युक्तियों को संग्रह करेंगे। न्यायदर्शन में जन्मांतर का नाम प्रेत्यभाव है।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।—१।१।१९ सूत्र

प्रेत्य मृत्वा भावो जननं प्रेत्यभावः। तत्र पुनरुत्पत्तिरित्यनेनाभ्यास-कथनात् प्राग् उत्पत्तिः ततो मरणं तत उत्पत्तिः इति प्रेत्यभावोऽयम् अनादिरपवर्गान्तः—वात्स्यायन भाष्य।

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः—४।१।१० सूत्र

नित्योयमात्मा प्रैति पूर्वशरीरं जहाति म्रियते इति। प्रेत्य च पूर्व-शरीरं हित्वा भवति जायते शरीरांतरमुपादत्ते इति सोऽयं जन्ममरण-प्रबंधाभ्यासोऽनादिरपवर्गांतः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति—वात्स्यायन।

अर्थात् 'मरने पर जो दूसरा जन्म होता है उसे प्रेत्यभाव कहते हैं। जन्म-मृत्यु का यह बार बार प्रवाह अनादि है। मुक्ति के सिवा यह बंद होने का नहीं।'

न्यायदर्शन के तृतीय आह्निक में महर्षि गौतम ने जन्मांतर के लिये साधक युक्तियाँ दी हैं। इन सब युक्तियों के सार-संग्रह को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) सहजात संस्कार या Instinct (२) जन्म-सिद्ध राग-द्वेष।

विज्ञान की भाषा में जिसे Instinct कहते हैं और जो निम्न श्रेणी के किसी किसी प्राणी के तुरंत के उपजे हुए बच्चे में स्पष्ट रूप से देख पड़ता है उस Instinct या सहजात संस्कार का निदान क्या है? तुरंत का उपजा हुआ बत्तक का बच्चा पानी में तैर सकता है। यह कला उसने कहाँ से सीख ली? बंदर का बच्चा, पैदा होते ही, वृक्ष की डाल पकड़कर आत्मरक्षा करता है। यह कला उसने कहाँ से सीख ली* ? Instinct का स्वभाव ही यह है कि उसे

---

* Instinct के और भी अनेक उदाहरण हैं। नीचे एक अभिज्ञ लेखक की रचना से कुछ उद्धृत किए जाते हैं।

A chicken just out of the egg will run under the hen if a hawk hovers over the cornyard. A kitten will set up its hair and swell its tail, endeavouring to look large and menacing, in face of danger. A new born mammal will suck, a just hatched bird will peck or open its beak accordino to its kind. And so on.

सिखलाने की आवश्यकता नहीं होती। वह पहले से ही स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो जाता है।

इस संबंध में अँगरेजी के विश्वकोश (Encyclopedia Britannica) से टिप्पणी में एक अंश उद्धृत किया है। पाठक देखेंगे कि विश्वकोश-लेखक ने Instinct के कई एक उदाहरण देकर यही सिद्धांत कर लिया है कि सहजात-संस्कार से जो क्रिया-कलाप होता है उसमें सिखाने की या साधन की आवश्यकता नहीं होती, वह सांसिद्धिक अथवा स्वयंसिद्ध होता है*।

यदि यह सच है तो सहजात संस्कार कहाँ से आता है? न्यायदर्शन का कहना है कि यह पिछले जन्म के अनुभूत विषय का अभ्यास से उत्पन्न दृढ़बद्ध संस्कार है। उदाहरण के लिये न्यायदर्शनकार ने तुरंत के उपजे हुए बच्चे की दूध पीने की इच्छा का उल्लेख किया है।

प्रेत्याभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्।

—न्यायसूत्र, ३।१।२१

---

* By the patient study of the behaviour of precocious young birds such as chicks, pheasants, ducklings and moor hens, it can be readily ascertained that such modes of activity as running, swimming, diving, preening the down, scratching the ground, pecking at small objects with the characteristic attitudes expressive of fear and anger are so far instinctive as to be definite on their first occurrence—they do not require to be learnt.—Ency. Brit.—11th Edt., vol. XIV, p. 649.

इस सूत्र का वात्स्यायन भाष्य इस प्रकार है—

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते। स च नान्तरेण आहाराभ्यासम् * * * * न च पूर्वशरीरमन्तरेण असौ जातमात्रस्य उपपद्यते। तेन अनुमीयते भूतपूर्वं शरीरं यत्रानेन आहारोऽभ्यस्त इति।

अर्थात् 'तुरंत के उपजे हुए बछड़े में दूध पीने की प्रवृत्ति देख पड़ती है। बिना अभिलाषा के प्रवृत्ति नहीं होती है। अतएव समझना होगा कि पैदा होते ही बछड़े को दूध पीने की इच्छा रहती है। जिसने बार बार दूध नहीं पिया है उसे ऐसी इच्छा नहीं हो सकती। तुरंत के उपजे हुए बालक ने तो इस जन्म में इससे पहले दूध पिया नहीं है। अतएव समझना होगा कि उसने पिछले जन्म में दूध पिया था और उस पुराने शरीर में जो दूध पीने का अभ्यास किया था, और जो संस्कार रूप में संचित था, वही इस जन्म में तुरंत के उपजे हुए बच्चे में दूध पीने की प्रवृत्ति के रूप से प्रकाशित होता है।'

न्याय-दर्शन में बतलाई हुई, जन्मांतर की साधक, द्वितीय श्रेणी की युक्तिप्रणाली इस प्रकार है। न्यायदर्शन का कथन है कि प्रत्येक जीव में थोड़ा-बहुत जन्मसिद्ध राग-द्वेष देखा जाता है। इस राग-द्वेष का मूलकारण इस जन्म के किसी कार्य से उत्पन्न नहीं हुआ है; यह तो स्वयं-सिद्ध है, जन्म के साथ ही साथ आया है। यदि यह ठीक है, तो जब कि वह राग-

द्वेष इस जन्म के किसी कार्य से उत्पन्न नहीं हुआ है तब वह अवश्य ही पिछले जन्म के किए हुए संस्कार का फल है।

कदाचित् बहुत लोग यह जानते होंगे कि एक समय पाश्चात्य मनोविज्ञानी पंडित (psychologists) मनुष्य के मन को 'Tabula rasa' कहते थे। अर्थात् उनकी राय थी कि मनुष्य जिस मन को लेकर पैदा होता है वह बिना लिखी हुई सादी स्लेट है, उस पर किसी प्रकार के अक्षर या लिखावट नहीं होती। दुनिया के संसर्ग में आकर बच्चा जैसे जैसे सीखता जाता है वैसे वैसे स्लेट पर क्रमशः रेखाएँ खिंचती जाती हैं। उम्र बढ़ने के साथ साथ अधिक जानकारी होने के कारण इस तमाम स्लेट पर क्रमशः टेढ़ा सीधा लिख-लिखा जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस मत से न्यायदर्शन का मत बिलकुल नहीं मिलता। न्यायदर्शन का कथन है कि शिशु जिस मन को लेकर पैदा होता है वह सादी स्लेट नहीं है, उस पर तो पहले से ही बहुत सी रेखाएँ खिंची हुई हैं। ये रेखाएँ जन्म-सिद्ध राग-द्वेष हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस युग के पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने Tabula rasa का मत छोड़ दिया है। एक स्थान पर हरबर्ट स्पेंसर ने कहा है कि बारीकी से जाँच की जाय तो एक महीने के बच्चे की प्रकृतिगत विशेषता बतलाई जा सकती है। अतएव इस संबंध में न्याय का मत उपेक्षणीय नहीं है।

इस जन्मगत राग-द्वेष के संबंध में न्यायदर्शन तृतीय आह्निक के प्रथम अध्याय में यह लिखा है—

वीतरागजन्मादर्शनात्—३ । १ । २५

इस पर यह वात्स्यायन भाष्य है—

सरागो जायते * * * * अयं जायमानो, रागानुबद्धो जायते । रागस्य पूर्वानुभूतविपयानुचिन्तनं योनिः । पूर्वानुभवश्च विषयानां अन्यस्मिन् जन्मनि शरीरम् अन्तरेण नोपपद्यते । सोऽयं आत्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन् तेषु तेषु रज्यते ।

अर्थात् 'जीव रागयुक्त होकर ही जन्म लेता है; जीव में उपजते ही रागानुबंध देख पड़ता है । राग या आसक्ति की योनि पूर्वानुभूत विषय का अनुचिंतन है । उस विषय का पहले से अनुभव होना जन्मांतर में ग्रहण किए हुए शरीर के सिवा उपपन्न नहीं होता । अतएव समझना होगा कि यह रागानुबिद्ध आत्मा पूर्व शरीर में जिन विषयों का अनुभव कर चुका है उनका अनुस्मरण करके ही उसमें रागयुक्त हो जाता है ।'

न्यायदर्शन ने इस प्रसंग में और भी कहा है—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः

—३ । १ । १६

जातः खल्वयं कुमारकः अस्मिन् जन्मनि अगृहीतेषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान् । ते च स्मृत्यनुबन्धात् उत्पद्यन्ते नान्यथा । स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति । पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि

सति, नान्यथा इति सिद्ध्यत्येतत्। अवतिष्ठते अयं ऊद्ध्वं शरीरभेदात् इति——वात्स्यायन भाष्य।

अर्थात् 'तुरंत के उपजे हुए बच्चे को जिस विषय का अनुभव इस जन्म में नहीं हुआ है उसमें भी हर्ष-शोक-भय देखा जाता है। यह हर्ष-शोक-भय अनुस्मरण (स्मृति-प्रवाह) के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। फिर अनुस्मरण पूर्वाभ्यास के बिना सिद्ध नहीं होता। यदि जन्मांतर हो तो ही पूर्वाभ्यास होना संभव है, अन्यथा नहीं। उस अभ्यास का संस्कार पिछला शरीर न रहने पर भी बना रहता है।' तब तो सिद्ध हो गया कि जन्मांतर में जीव ने जिन विषयों को भोगा था उनका संस्कार स्मृति रूप से उसे इस जन्म में भी बना हुआ है और उसी अनुस्मरण से उसको ऐसे विषयों में भी हर्ष या शोक होता है जिसका कि इस जन्म में उसने अनुभव ही नहीं किया है। इस प्रकार न्यायदर्शन ने जन्मांतर को सिद्ध किया है।

हिंदू दर्शन से जन्मांतर की साधक कुछ युक्तियाँ दिखला दी गईं। अब अगले अध्याय में देखा जायगा कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से जन्मांतर-वाद का कैसी कैसी युक्तियों द्वारा समर्थन हो सकता है।

तृतीय अध्याय

विवर्तनवाद और जन्मांतर

पिछले अध्याय में हमने कुछ ऐसी दार्शनिक युक्तियों की आलोचना की है जिनसे जन्मांतर का समर्थन होता है। हम देख चुके हैं कि जगत् में जो विषमता देख पड़ती है उस वैषम्य-समस्या की एकमात्र संतोषजनक मीमांसा जन्मांतर-वाद है। हमने यह भी देख लिया है कि विज्ञान की भाषा में जिसे Instinct of Self-preservation कहते हैं—प्राणिमात्र को वही मृत्यु का डर—जो संस्कार कि जीव के साथ आता है, उसके द्वारा भी जीव का जन्मांतर सिद्ध होता है। हम यह भी देख चुके हैं कि विज्ञान की भाषा में जिसे Instinct कहते हैं और जो सांसिद्धिक अथवा स्वयंसिद्ध है—उस संस्कार का विश्लेषण करने से भी जन्मांतर प्रमाणित होता है। हमको मालूम हो गया है कि तुरंत ही उपजे हुए बालक का मन बिना लिखी सादी स्लेट नहीं है, उसमें तो जन्म से ही बहुत सी रेखाएँ अंकित रहती हैं। उसके पिछले जन्म की चित्तवृत्ति के संस्कार ही ये रेखाएँ हैं। इससे भी जन्मांतर अनुभूत सिद्ध होता है। अब यहाँ पर हम देखेंगे कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से जन्मांतरवाद का समर्थन किस प्रकार होता है।

वर्तमान युग में पाश्चात्य विज्ञान का सबसे बढ़कर कृतित्व विवर्तन रूप आर्य सत्य का आविष्कार है। यह विवर्तन-वाद (Theory of Evolution) अब पाश्चात्य जगत् के लिये प्राणस्वरूप हो गया है और सभी जगह इसका प्रयोग और प्रतिपत्ति देख पड़ती है। विवर्तन का अर्थ है क्रम-विकाश—अव्यक्त से व्यक्त की ओर व्यक्त से व्यक्ततर की अभिव्यक्ति होना*।

पहले, यह जगत् असत् अथवा अव्याकृत था—

तद्धेदं तर्हि अव्याकृतं आसीत्—बृह, १।४।७

असद् वा इदमग्र आसीत्—तैत्ति, २।७

विज्ञान का मत है कि जगत् की उसी अव्याकृत, अव्यक्त, अविशेष (Homogeneous) आदिम अवस्था का विवर्तन होने से इस व्याकृत, सुव्यक्त, विशिष्ट विश्व का विकाश हुआ है। यह वही प्राचीन शिक्षा है—

अविशेषात् विशेषारंभः—सांख्यसूत्र

अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः—गीता

अतएव स्पष्ट हो गया कि इस संबंध में पाश्चात्य विज्ञान और प्राच्य प्रज्ञान का एक ही मत है। किंतु इस विकाश का क्रम और प्रणाली कैसी है? जान पड़ता है कि क्रम के संबंध में भी दोनों मतों के बीच विशेष पार्थक्य न देख पड़ेगा।

---

* From the homogeneous to the heterogeneous and from the less heterogeneous to the more heterogeneous अर्थात् from indefiniteness to definiteness, from simplicity to complexity.

विज्ञान की ओर से विकाश के क्रम का स्थूल वर्णन इस प्रकार का हो सकता है।

विज्ञान का कथन है, आरंभ में सिर्फ Uniform Ether of Space या 'प्रोटाइल'(Protyle) था—और थी Energy या शक्ति। यह प्रोटाइल है हमारे पुराणों का कारणार्णव, सांख्य की एकाकार प्रकृति और ऋग्वेद का अप्रकेत सलिल।

अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।—१०। १२६। ३

एक दिन वह ईथर-सागर मथ डाला गया और अगणित बुलबुले देख पड़ने लगे। इनका वैज्ञानिक नाम इलेक्ट्रोन (Electron) या ताड़िताणु है। इलेक्ट्रोन क्या है ?

Electron is the specialisation or organisation of specks of Ether अर्थात् निर्विशेष ईथर-बिंदु का कथंचित् सविशेष भाव—इसी को हम बुद्बुद कहते हैं। परीक्षा करने से निश्चित हो चुका है कि इलेक्ट्रोन के दो भेद हैं—नर या Positive और मादा या Negative। इस भेद को सूचित करने के लिये कोई कोई नर इलेक्ट्रोन को 'प्रोटन' (Proton) और मादा इलेक्ट्रोन को 'इयन' (Ion) कहते हैं। यह प्रोटन और इयन अनेक प्रकार से संहत और सज्जित हो सकता है। इसी संहनन-भेद से भिन्नजातीय परमाणु या Atoms (आक्सि-जन, हाइड्रोजन, पारद, गंधक, सुवर्ण, चाँदी इत्यादि) की सृष्टि हुई है।

विज्ञान की भाषा में कहा जायगा—Associated systems of electrons constitute the Atoms of matter. पारे और सोने में, अथवा हाइड्रोजन और नाइट्रोजन में कोई भेद नहीं है; भेद तो केवल इन इलेक्ट्रोनों के संस्थान और सजावट में है। पजावे भर ईंटों को हम विभिन्न प्रकार से सजाकर जिस तरह विचित्र अट्टालिका, मंदिर, मसजिद, गिरजा आदि बना सकते हैं, उसी तरह निसर्ग या Nature ने इलेक्ट्रोन-रूप ईंटों द्वारा संस्थान-भेद से कोई नब्बे प्रकार के रासायनिक परमाणुओं या Elements का गठन किया है। इसी क्रम से प्रोटाइल से क्रमशः परमाणु उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् ताप, तड़ित्, प्रकाश और कीमिया (Chemical Affinity) प्रभृति जड़शक्ति ने उन विविध परमाणुओं पर क्रिया करके उनके संयोग-समवाय द्वारा इस विविध, विचित्र, विशाल, निरंग जगत (The whole Inorganic Universe) की रचना की है। इस देश की भाषा में निरंग जगत् का नाम स्थावर है; विज्ञान इसे Mineral Kingdom कहता है। स्थावर के बाद जंगम (Vegetable और Animal Kingdoms)—स्वेदज, उद्भिज, अंडज और जरायुज हैं। इस जंगम सृष्टि को विज्ञान Organic Universe कहता है। स्थावर का विश्लेषण करने पर जिस प्रकार परिणाम में परमाणु पाए जाते हैं उसी प्रकार जंगम का विश्लेषण करने पर अंत में कोषाणु (Cell) पाया जाता है। पाश्चात्य विज्ञान की राय में स्थावर सृष्टि प्राणहीन है; किंतु

क्रम से विवर्तन जब जंगम सृष्टि में आया तब एक विचित्र बात हुई, एक अभूतपूर्व अतर्कित वस्तु के दर्शन हुए। विज्ञान की भाषा में कहते हैं—As a new and astonishing departure came the Cell.—ये Cell या कोषाणु कहाँ से आ गए? इसमें हमने एक अद्भुत अभिनव शक्ति का कैसा खेल देखा? वह शक्ति है प्राण या जीवन (Life)। सर ऑलिवर लॉज कहते हैं कि प्राण कहने से यह अभिप्राय है—The vivifying principle which animates matter—जो तत्त्व जड़ को अनुप्राणित करता है वही तत्त्व प्राण है। वे और भी कहते हैं—Life must be considered sui generis, it is not a form of energy, nor can it be expressed in terms of something else* अर्थात् प्राण एक अद्भुत अजीब वस्तु है। यह किसी जड़ शक्ति का रूपांतर नहीं है, अथवा किसी वस्तु का सजातीय नहीं है। जड़शक्ति का आयतन ससीम है, उसके परिमाण की एक निर्दिष्ट सीमा है—१००० डिग्री ताप, ५०० बत्तियों के उजाले के दस हजार भाग करने से खंडित होकर क्षुद्रतर हो जाता है; किंतु जीवन (Life) अखंड और अमेय है। एक बीज से वंशानुक्रम से सैकड़ों हजारों संततियाँ उत्पन्न हों तो भी उसकी शक्ति अपचित न होगी†।

---

* Raymond or Life and Death, p. 290.

† The seed can give rise to innumerable descendants through countless generations, without limit. There is nothing like a constant quantity to be shared, as there

इस क्षुद्र बीज में जो शक्ति उछलती है उसका फुहारा अक्षय और अव्यय है। The seed embodies a stimulating and organising principle which appears too well from a limitless source. इसी लिये उपनिषद् के ऋषि ने प्राण को लक्ष्य करके कहा है—

जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।

अर्थात् जीवन अपेत होने से संघात टूट जाता है, किंतु जीवन कभी विनष्ट नहीं होता।

यह संघात-रचना प्राण का एक विशेष कार्य है। हम जिस प्रकार पुरी की रचना करते हैं उसी प्रकार प्राण संघात (Structure or Organism) की रचना करता है*।

हम जब किसी नगर की रचना करते हैं तब उसका सामान, उसका उपादान नहीं बनाते—हम तो प्राकृतिक उपादान को सजा देते हैं। संघात-रचना करने में प्राण भी यही काम करता है। उस पूर्व-रचना में हम प्राकृतिक नियमों (Physical, Chemical and Mechanical Laws) में

---

is in all examples of energy; there is no conservation about it.—Raymond, p. 240.

* इसी लिये सर ऑलिवर लॉज ने कहा है—

But although life is not energy, any more than it is matter, yet it directs energy and thereby controls arrangements of matter. Through the agency of life specific structures are composed, which would not otherwise exist, from a sea-shell to a cathedral, from a blade of grass to an oak.

किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं करते। उनमें केवल चालन कर देते हैं। संघात-रचना में प्राण भी यही करता है*।

प्राण का एक और काम निर्वाचन करना है—हितकर और अहितकर, मित्र और अमित्र का विवेचन करना है। लॉज साहब कहते हैं कि यह प्राण की निजी वस्तु है—यह जड़ शक्ति से परे है; क्योंकि इसमें ऐच्छा और संकल्प का आभास पाया जाता है।

प्राण का एक और निजी काम पुष्टि या विवृद्धि (Growth) है। निरंग वस्तु भी (Inorganic substance) बढ़ती जरूर है किंतु वह वृद्धि और सांग वस्तु की वृद्धि एकजातीय नहीं है। उदाहरण के लिये Crystal का उल्लेख किया जा सकता है।

लॉज साहब कहते हैं—The differences between a growing organism and a growing crystal are many and various और अपने मत के समर्थन के लिये उन्होंने प्रख्यात शारीर-विज्ञानविद् अध्यापक हैरिस (Fraser Harris) के अभिमत को बड़े आदर के साथ उद्धृत किया है।

---

* Admittedly life exerts no force, it does no work but makes effective the energy available to an organism which it controls and vivifies; it determines in what direction and when work shall be done * * One of its functions is to discriminate between the wholesome and the deleterious, between friend and foe. This is a function outside the scope of physics.—Raymond, page 291.

अध्यापक हैरिस का कथन है—प्राणियों में ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वे प्राय: विजातीय आहार को पचाकर अपनी देह को पुष्ट करते और बढ़ाते हैं—यह एक अद्भुत शक्ति है। अप्राणी में यह शक्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती*।

मनुष्य को देखिए कि वह मांस, मछली, पशु, पक्षी, शाक, पत्ते, फल, फूल, जड़ें, घी, चीनी—कुछ भी क्यों न खावे, अपनी उल्लिखित शक्ति के बल पर वह सभी प्रकार के खाद्य को हजम करके मानव-'धातु' में परिणत कर लेगा। क्या यह बहुत ही विचित्र काम नहीं है†? ठीक है, किंतु क्रस्टल में भी बढ़ती देखी जाती है पर अध्यापक फ्रेजर की राय में वह बढ़ती बिलकुल स्वतंत्र श्रेणी की है। A crystal growing in a solution is not analogous to this process, it is in the sharpest possible contrast with it. ऐसा क्यों है? पहले तो यह क्रस्टल किसी वस्तु को पचा नहीं

---

* Living animal bioplasm has the power of growing, that is, of assimilating matter, in most cases chemically quite unlike its own constitution. Now this is a remarkable power not in the least degree shared by non-living matter.

† The mere fact that a man eating beef, bird, fish, lobster, sugar, fat and innumerable other things can transform these into human bioplasm, something chemically very different even from that of them which most resembles human tissue, is one of the most extraordinary facts in animal physiology.

सकता—विसदृश उपादान को अपने में लीन नहीं कर सकता; सिर्फ सदृश उपादान को अपने में मिलाकर बढ़ सकता है।

अर्थात् प्राणधारी की तरह क्रुस्टल में 'स्वीकरण' नहीं है, उसमें केवल संयोजन है*।

दूसरे, प्राणी सिर्फ लेता ही लेता नहीं रहता है—वह छोड़ता भी है। अप्राणी में यह विसर्ग कार्य (Excretion) बिलकुल ही नहीं है। इसी लिये हिंदू दार्शनिकों का कथन है कि प्राणियों में सिर्फ प्राण ही प्राण नहीं है बल्कि अपान भी है। प्राण का काम ग्रहण करना और अपान का काम निकालना है।

प्राणापानसमायुक्तो पचाम्यन्नं चतुर्विधम्। —गीता।

इसी लिये प्राणी से क्रुस्टल का भेद बताते हुए अध्यापक फ्रेजर कहते हैं—

The crystal is only incorporating, not excreting anything, whereas, living matter is always excreting as well as assimilating. This one-sided metabolism is indeed characteristic of the crystal, but it is at no time characteristic of the living organism.

---

* A crystal grows only in the sense that it increases in bulk by accretion to its exterior, only does that by being immersed in a solution of the same material as its own substance. It takes up to itself only material which is already similar to itself; this it not assimilation, it is merely incorporation.

प्राणी और अप्राणी के बीच, सांग और निरंग के बीच यही मर्मांतिक भेद है। प्राणी की देह में लगातार यह लेना और छोड़ना—assimilation और excretion—साथ ही साथ होता रहता है। शारीर विज्ञान की भाषा में इनको Anabolism और Katabolism कहते हैं। बच्चे की देह में छोड़ने की क्रिया की अपेक्षा लेने—ग्रहण करने—की क्रिया अधिक होती है, इसी लिये बच्चे की देह क्रमशः पुष्ट और परिणत होकर युवा हो जाती है। युवा देह में यह Anabolism और Katabolism तुल्यबल (quantitatively equal) रहता है—यानी जितना बाहर निकाल देता है उतना ही बाहर से ले भी लेता है। किंतु बुढ़ापे में बाहर निकालने की ही क्रिया प्रबल रहती है—आदान अर्थात् ग्रहण करने की क्रिया अभिभूत हो जाती है; इसी लिये देह का क्रमशः क्षय और अपचय होता है*।

किंतु हमें इस बात पर ध्यान देना है कि क्या बालक, क्या युवा और क्या बूढ़ा—सभी अवस्थाओं में आदान और विसर्ग (लेने-छोड़ने) की क्रिया साथ साथ होती रहती है;—अपचय के स्थान में उपचय होता है, क्षय व्यय के स्थान में संचय होता है†।

---

* In the adult of stationary weight anabolism is quantitatively equal to katabolism, whereas in the truly growing organism anabolism is prevailing over katabolism; conversely, in the wasting of an organism or senile decay, katabolism is prevailing over anabolism.

† The organism, whether truly growing, or only in metabolic equilibrium, is constantly taking up material

प्राणी की यही विशेषता या स्वालक्षण्य है—अप्राणी में इसका नाम भी नहीं है।

इन सब बातों को लक्ष्य करके अध्यापक फ्रेजर कहते हैं— Between the living and the non-living, there is a great gulf fixed and no efforts of ours, however heroic, have as yet bridged it over अर्थात् प्राणी और अप्राणी में बहुत अंतर है; दोनों के बीच में पुल बाँधना व्यर्थ है।

हमने देख लिया है कि पाश्चात्य विज्ञान के मत से स्थावर सृष्टि प्राण-हीन है। इस प्राण-हीन संसार में जंगम या प्राणी की उत्पत्ति किस प्रकार हुई; जड़ पदार्थ (Dead matter) में प्राण का संचार किस प्रकार हुआ? यह पाश्चात्य विज्ञान के लिये बड़ी जबर्दस्त उलझन है। पाश्चात्य विज्ञान इसका ठीक निर्णय नहीं कर सकता। उनके यहाँ दो दल हैं। एक दल कहता है कि जगत् के उस अतीत कल्प में स्थावर के बीच एक दिन अतर्कित अज्ञात रूप से प्राण के दर्शन हो गए थे। इस दल का नाम है Abiogenist। हर्बर्ट स्पेंसर इसी दल में हैं। दूसरे दल का कहना है कि अप्राणी, प्राण-हीन कभी प्राणधारी का जनक नहीं हो सकता। प्राण से ही प्राण की उत्पत्ति होती है। वे कहते हैं कि स्मरणातीत समय में किसी ग्रह से आकाशमार्ग होकर न जाने किस तरह प्राण

---

to replace effete material, is replenishing because it has previously displenished itself or cast off material.

का बीज हमारी पृथिवी पर आ गया था। उसी बीज से प्राणि-जगत् उत्पन्न हुआ है। इस दल का नाम Biogenist है। कहने का प्रयोजन नहीं कि इस दल ने प्रश्न का समाधान तो किया नहीं, उलटा उसे पीछे हटा दिया है; क्योंकि यदि हमारे पृथिवी ग्रह में किसी दूसरे ग्रह से प्राण-बीज उड़कर आया होता तो फिर उस ग्रह में प्राण की उत्पत्ति क्योंकर हुई थी? पाश्चात्य विज्ञान इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। किंतु प्राच्य प्रज्ञान के लिये इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। प्राच्य प्रज्ञान कहता है कि जिसे तुम प्राण-हीन जड़ कहते हो वह सचमुच में प्राण-हीन नहीं है—वह तो महाप्राण के अनु-प्राणन से अनुप्राणित है। वास्तव में जड़ तो कुछ है ही नहीं; जो कुछ है, चिन्मय है। तुम्हारी स्थावर-सृष्टि (Mineral Kingdom) भी प्राणमयी है। विज्ञानाचार्य सर जगदीशचंद्र वसु ने इस तत्त्व को परीक्षा द्वारा सिद्ध कर दिखाया है। वे ऋषि-संतान हैं, इसी लिये प्राच्य प्रज्ञान की यह अंतरंग बात उनकी बुद्धि में मुखरित हुई है। यह ठीक ही है। कुछ भी हो, और किसी उपाय से हो, स्थावर-जगत् में जब से प्राण देख पड़े तभी से जंगम सृष्टि का आरंभ है।

पहले, उद्भिद्-राज्य (Vegetable Kingdom) हुआ। प्राण क्रमश: विवर्तन की प्रेरणा से उद्भिद्-राज्य को अतिक्रमण करके जीवराज्य (Animal Kingdom) में पहुँचा। पाश्चात्य विज्ञान के मत से जीवराज्य में विकाश का क्रम इस

प्रकार है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बंदर और मनुष्य हुए। इस क्रम के साथ प्राच्य प्रज्ञान का कुछ विवाद नहीं है। बल्कि मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह और वामन प्रभृति अवतारों के क्रम-पर्याय द्वारा पाश्चात्य सिद्धांत की पूर्व-सूचना प्राप्त होती है। इस देश की यह भी शिक्षा है कि जलज और स्थलज हजारों जीवयोनियों में घूम-घाम चुकने पर जीव मनुष्ययोनि में आता है। यही 'लखचौरासी' का फेरा है। बृहत् विष्णुपुराण में इस विषय का विस्तार इस प्रकार है—

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्।
कूर्माश्च नवलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः॥
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥
एतेषु भ्रमणं कृत्वा द्विजत्वमुपजायते।
सर्वयोनिं परित्यज्य ब्रह्मयोनिं ततोऽभ्यगात्॥

अर्थात् 'स्थावर २० लाख, जलज ९ लाख, कूर्म ९ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख और बंदर ४ लाख—इन योनियों में भ्रमण कर चुकने के बाद जीव मनुष्ययोनि में प्रवेश करता और क्रमशः द्विजत्व को प्राप्त करता है। द्विजों में श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होता है। सारी योनियों में भ्रमण कर चुकने पर जीव को अंत में ब्रह्मयोनि प्राप्त होती है।'

इसमें भी पूर्वोक्त पाश्चात्य सिद्धांत का पूर्वरूप पाया जाता है। इसी से हमने कहा था कि विवर्तन के क्रम-संबंध में पाश्चात्य

विज्ञान और प्राच्य प्रज्ञान के बीच विशेष मतभेद नहीं है; किंतु मर्मांतिक प्रभेद तो विवर्तन की प्रणाली के संबंध में है।

पाश्चात्य विज्ञान कहता है कि यह विवर्तन तो देह-गत है। प्राच्य प्रज्ञान की राय में यह देह-गत नहीं, जीव-गत है। इस जन्म में जीव क्रम-विकाश की जिस सीढ़ी पर पहुँचा है वह उन्नति, संस्कार रूप में, उसमें बनी रहती है और अगले जन्म में वह उसी संस्कार का अधिकारी होकर जन्म लेता है। इस प्रकार हर जन्म में जीव उन्नति की मंजिलें तय किया करता है।

जीव का पहले स्थावर रूप में जन्म होता है। फिर वह क्रम-विकाश के फल-स्वरूप स्थावर-राज्य को अतिक्रम करके जंगम-राज्य में पहुँचता है। जंगम-राज्य में पहुँचने पर पहले उसे सरीसृप की देह मिलती है। फिर क्रमशः विवर्तन के फल से वह सरीसृप से पक्षी और पक्षी से पशु की देह में आता है। पशुराज्य में, भिन्न भिन्न स्तरों में, बहुत से जन्म बिता चुकने पर अंत में जीव मनुष्य-देह धारण करने लायक होता है। मनुष्यों में भी पहले वह असभ्य, इसके बाद अर्धसभ्य, फिर सभ्य और अंत में सुसभ्य मनुष्य के रूप में जन्म ग्रहण करता है। किंतु वहाँ भी उसका क्रम-विकाश समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य से वह अतिमनुष्य होता है। मनुष्यता की सीमा को लाँघ चुकने पर अंत में जीव जीवन्मुक्त हो जाता है। यही क्रम-विकाश की अंतिम सीढ़ी है*।

---

* इसी बात को सूफी साधक कहते हैं—I died from the

अतएव स्पष्ट देख पड़ता है कि प्राच्य विवर्तन-वाद के साथ जन्मांतर घनिष्ठ भाव से संयुक्त है। जीव न जाने कितने जन्म ग्रहण करके क्रम-विकाश के मार्ग पर धीरे धीरे आगे बढ़ा है। प्रत्येक जन्म में उन्नति करने के लिये उसे जो अवसर मिलता है उसके सद्व्यवहार द्वारा प्रायः या तो वह दो एक पग आगे बढ़ जाता है, या दो एक पग पीछे भी हट आता है। प्रत्येक जन्म का संस्कार जीव में सुरक्षित रहता है और अगले जन्म में वह उस संस्कार की सुविधा से लाभ उठाता है।

किंतु पाश्चात्य विज्ञान के मत से विवर्तन की प्रणाली और ही तरह की है। पाश्चात्य वैज्ञानिक कहते हैं ('कहते थे' कहना शायद ठीक होगा, क्योंकि अब तो बहुतेरे वैज्ञानिकों ने इस मत को छोड़ दिया है) कि प्राणि-जगत् में संतान को उत्तराधिकार-सूत्र से पितृगुण प्राप्त होते हैं। पिता-माता ने जीवित दशा में यदि किसी गुण को प्राप्त किया है तो वह संतान में आ जाता है। इसको उत्तराधिकार नियम या Law of Heredity कहते हैं। इस नियम के अनुसार पुश्त दरपुश्त, एक संतान के बाद दूसरी संतान में, वह गुण बढ़ते बढ़ते सुस्पष्ट मूर्ति धारण कर लेता है। इस प्रकार धीरे धीरे विवर्तन या Evolution द्वारा जीव का क्रम-विकाश सिद्ध होता है।

---

mineral and became a plant. I died from the plant and reappeared in an animal. I died from the animal and became a man. Wherefore then should I fear? When did I grow less by dying?—Mansavi.

इसको तनिक खुलासा कर देना ठीक होगा। यों समझिए कि प्राणि-राज्य में 'जिराफ' एक जीव है। वह वृक्षों के पत्ते खाता है। ऐसे और भी अनेक जंतु हैं जो इस क्षेत्र में उसके प्रतियोगी हैं; क्योंकि वे भी वृक्षों की पत्तियाँ खाते हैं। जितनी पत्तियाँ होने से सब पत्तियाँ खानेवाले जीवों का आराम से गुजारा हो सके उतनी पत्तियाँ किसी एक ऐसे जंगल में नहीं हैं जहाँ जिराफ रहता है। अतएव अन्य जंतुओं के साथ जिराफ का और जिराफ के साथ अन्य जंतुओं का जीवन-संग्राम (जिसे Struggle for Existence कहते हैं) छिड़ गया। इस संग्राम में जो प्रबल था, सबसे अधिक योग्य था, पत्तियों के संग्रह करने में जिसको सुभीता और अवसर अधिक था, वही जीता-जागता बच गया; अन्य जंतुओं का वंश धीरे धीरे लुप्त होने लगा अर्थात् जीवन-संग्राम में वही विजयी हुआ जो सबसे अधिक योग्य था*।

---

* Some antediluvian member of the condylartha found his food at an abnormal height over his head, and had to stretch it day after day to get his dinner; years so passing, little by little his neck grew longer His offspring then inherited the extra length of neck of their parent, and lengthened their necks also, because of the need for them too to stretch out their necks for food; and so slowly the original type differentiated into the new species, the Giraffes. Other condylartha developed a tendency to butting, and the irritated bony part of the head thickened, and this thickness being transmitted from parent to offspring, slowly there arose antlers on the head and so came the new species, the Deer.

—Theosophy and Modern Thought, p. 4.

पीछे जिस जीवन-संग्राम का उल्लेख किया गया है वह कुछ भिन्न भिन्न श्रेणियों में ही नहीं होता है, बल्कि वह तो एक ही श्रेणी के भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भी होता रहता है। फल यह होता है कि जब खाद्य-कष्ट उपस्थित होता है, अर्थात् जब उतनी पत्तियाँ नहीं मिलतीं जितनी से सब जिराफों का पेट भर सके तब जो जिराफ सबसे योग्य होते हैं, जो अपनी गर्दन को इतनी लंबी कर सकते हैं कि पेड़ की ऊँची डालियों तक की पत्तियाँ पा सकें वे ही जीवन-संग्राम में बच रहते हैं; और जिनकी गर्दन उतनी लंबी नहीं है वे खाद्य-संग्रह करने में असमर्थ होकर जीवन-संग्राम में परास्त हो जाते हैं। इसी को विज्ञान की भाषा में योग्यतम का उद्वर्तन (Survival of the fittest) कहते हैं।

यह ठीक है कि जिराफ की संतान जिराफ ही होती है—गाय, भैंस या सिंह, व्याघ्र नहीं होती*; तथापि एक ही माँ-बाप की यमज संतान में भी कुछ वैसादृश्य रहता ही है—दो व्यक्ति सब बातों में बिलकुल एक से नहीं रहते। प्रकृत स्थान पर दो जिराफों के समान होते हुए भी उनके बीच कुछ वैसादृश्य रहेगा ही। एक की गर्दन दूसरे से या तो तनिक लंबी होगी या कुछ छोटी। यह नहीं हो सकता कि जिराफों के एक झुंड में से किसी की गर्दन कुछ लंबी और किसी की मामूली से कुछ छोटी न हो। इस प्रकार जिनकी गर्दन

---

* Cows beget cows, not cabbages.
Though like begets like, it never begets exactly alike. There are differences. This we call variation.

स्वभावतः लंबी है या जिसे उन्होंने उपाय से लंबा कर लिया है वे ही खाद्य-संकट के समय संग्राम में विजयी होकर बच सकते हैं और जिनकी गर्दन छोटी है उनमें से बहुतेरे जीवन-संग्राम में मर मिटते हैं अतएव उनके वंश की रक्षा या वृद्धि नहीं होती। दूसरी ओर जिनकी गर्दन लंबी है वे संतान उत्पन्न करके वंश-विस्तार कर लेते हैं और उत्तराधिकार-नियम से (Law of Heredity के अनुसार) अपनी स्वभावजात या चेष्टाकृत लंबी गर्दन को संतान में संक्रामित करते हैं। इन संतानों में जिनकी गर्दन स्वभावतः अथवा चेष्टा से कुछ अधिक लंबी है वे जीवन-संग्राम में, छोटी गर्दनवाले जाति-भाइयों को परास्त करके, बने रहकर वंशविस्तार करते हैं। इस प्रकार लंबी गर्दन होने के गुण ने, वंश-परंपरा के क्रम से 'नैसर्गिक निर्वाचन' (Natural Selection) के फलस्वरूप जिराफ जाति में स्थायी और दृढ़बद्ध होकर, धीरे धीरे लंबी गर्दन का विकाश साधन करते करते विवर्तन के विधान से आजकल की लंबी गर्दनवाली जिराफ श्रेणी की सृष्टि की है*।

---

* We said that heredity was essential also. And so it is, for the offspring of the fittest who have survived inherit their parents' fitness. Thus the next generation will start from a new average, so to say ; and while some of its members will be more fit than others (owing to variation again), the whole of the next generation will be fitter or better adapted, as a whole, because, by our theory, it inherits the fitness characteristic of its parents who were the survivors from the generation before.—Harmsworth's Popular Science, p. 1281.

जो कुछ जिराफ के संबंध में कहा गया है वही अन्यान्य प्राणियों के विवर्तन के संबंध में भी समझ लीजिए। यों समझिए कि किसी ऐसे जंगल में, जहाँ हिरन रहते हैं, व्याघ्र का उत्पात हुआ। वह पकड़ पकड़कर हिरनों को खाने लगा। 'यः पलायति स जीवति' का अनुसरण करके हिरन भाग करके अपनी जान बचाने लगे। जो स्वभाव से ही तेज भाग सकते हैं या प्राण बचाने की प्रबल चेष्टा से जिन्होंने तेजी से दौड़ना सीख लिया, ऐसे हिरन तो बच गये; लेकिन जो सुस्त थे उन्हें अपनी जान देनी पड़ी। अब उन तेज दौड़वाले हिरन-हिरनियों के जो बच्चे हुए उन्हें पितृगुण (तेज दौड़ना) उत्तराधिकार सूत्र से मिल गया। साथ ही साथ बाघ ने भी पीछा करना नहीं छोड़ा; अतएव यह तेज दौड़ने का गुण वंशानुक्रम से उपचित होने लगा। पिता से पुत्र को तेज चाल मिली, पुत्र से पौत्र को और भी फुर्ती मिली, पौत्र की अपेक्षा प्रपौत्र में यह गुण और भी अधिक बढ़ गया। इस प्रकार बहुत ही फुर्ती से भागना, हिरन जाति में, धीरे धीरे जमकर स्थायी हो गया।

पाश्चात्य विज्ञान का मत है कि इस प्रणाली से प्राणि-जगत् में श्रेणी-विभाग प्रतिष्ठित हुआ है। प्रसिद्ध जीवतत्त्ववेत्ता डार्विन ने इसे Origin of Species कहा है। हर्बर्ट स्पेंसर ने इसी का संप्रसारण करके उक्त उत्तराधिकारनियम (Law of Heredity) का मनोराज्य में प्रयोग किया और मानसिक विवर्तन या बुद्धि के क्रम-विकाश को सिद्ध करने की चेष्टा की। उन्होंने

कहा, यह देखा जाता है कि अंडे से बाहर निकलकर १० सेकेंड में ही मुरगी का बच्चा पैरों के बल खड़ा हो जाता और चलने-फिरने लगता है, दाना ढूँढ़कर चुगता है। तुरंत के उपजे हुए मुरगी के बच्चे ने यह सब काम कहाँ से सीख लिया? किसी ने उसे सिखाया नहीं है—जन्म होने के बाद अब तक कुछ सीखने का उसे अवसर ही नहीं मिला। स्पेंसर का कहना है कि उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त वंशपरंपरागत पैतामहिक संस्कार ही—जो कि इस अभी अभी उपजे हुए मुरगी के बच्चे के मस्तिष्क और स्नायुमंडली में संचित रहते हैं—इन सब कामों को उससे कराते हैं। इस प्रकार आज जो हम उन्नत-बुद्धिवृत्ति और धीशक्ति-संपन्न मनुष्यों को देखते हैं वह ऐसे ही विवर्तन का फल है। असभ्य पूर्व पितामह—जिसे पाँच तक गिनती नहीं आती थी, जिसकी भाषा में केवल नाम और क्रियापद ही था वही—इस प्रकार न्यूटन और शेक्सपियर का जनक हो गया है। इसी प्रकार संगीत-ज्ञान-शून्य पूर्व पिता-माता से मियाँ तानसेन और बिथोवेन जैसे संगीताचार्य उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि स्मरण से भी अतीत युग में हमारे वंद्य पूर्व पुरुषों ने जैसी चेष्टा, चिंतन और इच्छा की थी वही वंशपरंपरा के क्रम से, चक्रवृद्धि नियम के अनुसार बढ़कर, पिता से पुत्र में, पुत्र से पौत्र में और पौत्र से प्रपौत्र में संक्रामित हुई तथा एकत्र होकर आज धीरे धीरे सभ्य मानव-शिशु के मस्तिष्क में विकसित बुद्धि के आकार में

प्रकाशित हो रहा है। यही मानसिक क्रम-विकाश है; यही विवर्तन की सार्थकता है*।

यदि डार्विन और स्पेंसर का सिद्धांत ठीक हो—यदि पूर्व-पुरुष से प्राप्त गुण, उत्तराधिकार नियम से, पुत्र में संक्रामित होने का मत (transmission of acquired characters)

---

* In the attempt to explain the racial devolopment of mind Spencer invoked, as seems most reasonable, the principles of Lamarck. He observes the extraordinary skill of the chick, which, ten seconds after coming out of the egg, can balance itself, run about and pick up food. How did the chick learn this very complex co-ordination of eye, muscles and beak? It has not been individually taught, its personal experience is *nil*, but according to Spencer, it has the benefit of ancestral experience. According to Spencer, the age-long experience of the race is registered in the structure of the young individual—which is, of course, Lamarckism. Thus he argues, in a celebrated passage, that the human brain is the "organised register of infinitely numerous experiences received during the evolution of life or, rather during the evolution of that series of organisms through which the human organism has been reached. The effects of the most uniform and frequent of these experiences, have been successively bequeathed, principal and interest, and have slowly mounted to the high intelligence which lies latent in the brain of the infant. Thus it happens that the European inherits from twenty to thirty cubic inches more of brain than the Papuan. Thus in happens that faculties, as of music, which scarcely exist in some inferior races, become congenital in superior ones. Thus it happens that out of savages unable to count up to the number of their fingers, and speaking a language containing only nouns and verbs, arise at length our Newtons and Shakespeares.

विज्ञान-सम्मत है तो फिर विवर्तन को सिद्ध करने के लिये जन्मांतर-वाद की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती— Law of Heredity (उत्तराधिकार नियम) और वंशपरंपरा-क्रम से उपचीयमान संस्कारों द्वारा ही हम जीव के क्रम-विकाश को सिद्ध कर सकते हैं। किंतु यदि यह मत विज्ञान-विरुद्ध हो तो जन्मांतर-वाद का सहारा लिये बिना हमारे पास और उपाय ही क्या है? समस्या ऐसी जटिल और प्रयोजनीय है कि इस विषय की आलोचना तनिक विस्तार के साथ करने की आवश्यकता है। अगले अध्याय में हम यही काम करेंगे।

चतुर्थ अध्याय

संतति या उन्नति

पिछले अध्याय में हमने चार्ल्स डार्विन-प्रमुख विवर्तन-वादियों द्वारा प्रचारित जिस विवर्तन-क्रम का वर्णन किया है उससे तीन सूत्रों का आविष्कार किया जा सकता है,—

(१) पिता-माता के उपार्जित गुण उत्तराधिकार-नियम के अनुसार संतान में संक्रमित होते हैं।

(२) वही गुण, वंशानुक्रम से पीढ़ी दर पीढ़ी धीरे धीरे उपचित होकर, सुदीर्घ काल में सुस्पष्ट आकार धारण करके, एक जाति से अभिनव उपजाति (Species) उत्पन्न कर देता है।

(३) प्राणि-जगत् के ये सब परिवर्तन पारिपार्श्विक अवस्था के दबाव से ही सिद्ध होते हैं। वे परिपार्श्व या Environment के अवश्यंभावी फल हैं। वे आकस्मिक या स्वयंसिद्ध नहीं हैं। वे तो नैमित्तिक या आधिभौतिक अर्थात् पारिपार्श्विक अवस्था से उत्पन्न हुए हैं।

हम एक एक करके इन तीनों सूत्रों की आलोचना करेंगे और परीक्षा करके देखेंगे कि इनमें वैज्ञानिक बलाबल कैसा क्या है। इस परीक्षा के फल-स्वरूप कदाचित् हम यह प्रतिपन्न कर सकें कि विवर्तन देह-गत नहीं, जीव-गत है। विव-

र्तन यदि जीव-गत है तब तो जन्मांतर को मानना ही पड़ेगा—नहीं तो विवर्तन निराधार रहेगा और इस प्रश्न का भी कुछ उत्तर न मिलेगा कि प्राकृतिक नियम से क्रम-विकाश किस प्रकार साधित हुआ।

हमें इस बात की छानबीन करनी है कि पिता-माता के अर्जित किए हुए गुण संतान में संक्रामित होते हैं या नहीं। ऐसे संक्रमण को उत्तराधिकार नियम या Law of Heredity कहते हैं। पाश्चात्य विज्ञान का मत है कि प्राणि-जगत् में संतान को उत्तराधिकार-सूत्र से माता-पिता के अर्जित गुण मिलते हैं। यहाँ पर प्राणी से मतलब उद्भिद् (Vegetable) और जीव-जंतु (Animal) दोनों से है। माता-पिता ने यदि जीवित दशा में किसी गुण या विशेषता को प्राप्त किया हो तो वह गुण संतान में संक्रमित होता है। इस नियम से वंशानुक्रम के अनुसार पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता जाकर वह गुण समय पाकर सुस्पष्ट रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार प्राणी का क्रम-विकाश सिद्ध होता है।

जिराफ के आदिपुरुष की गर्दन आजकल के जिराफ की तरह लंबी न थी। किंतु जब खाद्य-कष्ट उपस्थित हुआ तब उन बहुत पुराने युग के जिराफों में जिनकी गर्दन औरों से लंबी थी वे ही ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की पत्तियां खाकर किसी तरह जीते बच रहे; और जिनकी गर्दन लंबी न थी उनका जीवन-संग्राम में पराजय हो गया। सबसे लंबी गर्दनवाले जिराफों की,

उत्तराधिकार-नियम से अपनी स्वभावजात या चेष्टा-सिद्ध, लंबी गर्दन संतान में संक्रमित हुई। उनकी संतानों में जिनकी गर्दन या तो जन्म से ही लंबी थी या जिन्होंने उसे उपाय से लंबा कर लिया था उन्होंने अपने से छोटी गर्दनवाले जातिभाइयों को जीवन-संग्राम में पराजित करके, स्वयं जीवित रहकर, अपने वंश का विस्तार किया। इस प्रकार लंबी गर्दन होने का गुण वंशपरंपरा-क्रम से Natural Selection या नैसर्गिक निर्वाचन के फल-स्वरूप जिराफ जाति में स्थायी और दृढ़बद्ध हो गया; उसने लंबी गर्दन का क्रम-विकाश साधन करके वर्तमान युग की लंबी गर्दनवाली जिराफ-श्रेणी को उत्पन्न किया है। अतएव इस मत से क्रम-विकाश को सिद्ध करने के लिये पितृ-लब्ध गुण या विशेषता का उत्तराधिकार-नियम से पुत्र में संक्रामित होना अत्यंत आवश्यक है। किंतु यदि यह Transmission of acquired characters प्रमाण से सिद्ध न हो तो इस नियम की सहायता से जीव का क्रम-विकाश सिद्ध होना क्या दुर्घट नहीं है? संतान में गुण-संक्रमण की यह 'थ्योरी' (Theory) क्या प्रमाण-सिद्ध है?

हमने जिसको उत्तराधिकार-नियम कहा है उस Law of Heredity का प्रचार सबसे पहले फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क (Lamarck) ने किया था। वे कहते थे कि पिता की चेष्टा और उद्यम का संस्कार पुत्र में संक्रमित होता है, अर्थात् पिता का उपार्जित किया हुआ गुण संतान को उत्तराधिकार में

मिलता है* । लामार्क के इस सूत्र के सहारे डार्विन ने अपना जगद्विख्यात विवर्त्तन-वाद प्रवर्त्तित किया । तो पिता का उपार्जित किया हुआ गुण पुत्र को किस प्रकार मिलता है? डार्विन ने इसका उत्तर दिया है कि माता-पिता के शरीर के प्रत्येक अंग से सूक्ष्म कला या अवयव संसृत होकर शुक्र और शोणित में संचित होते हैं—अतएव शुक्र और शोणित के मेल से जब संतान की देह उत्पन्न होती है तब यदि उसमें पिता-माता के अर्जित गुण संक्रमित हों तो उसमें विचित्रता ही क्या है? इस 'थ्योरी' का नाम डार्विन ने Pangenesis रखा है† । हमारे देश में पुत्र के संबंध में जो यह कहा जाता है कि 'अंगात्

* Lamarck declares that the effects of the development of the individual, its striving and achievement, are handed on by heredity to the next generation.

Thus Lamarck explains the long neck of the giraffe as developed by its feeding habits and gradually increased, by a kind of snowball process, in successive generations. Similarly, half-erect apes tried to become erect, and finally man became so.

† Darwin supposed that from every part of the body, there were given off tiny representatives which he called "gemmules" and that each gemmule had the power of reproducing something like the part of the body from which it had sprung. By the blood stream, these gemmules were supposed to be carried to the reproductive glands, and there elaborated into what we call germ-cells. Thus the germ-cells would veritably be produced from the body of the parent,—the hairs and nails and muscle-cells and brain-cells and so forth, each sending gemmules which would develop into corresponding structures in the new individual.—Harmsworth's Popular Science, p. 1038.

अंगात् संभवसि' उसी के अनुरूप यह बात है। तो इस बात के लिये क्या कोई वैज्ञानिक आधार है ?

हम देख चुके हैं कि हर्बर्ट स्पेंसर ने उक्त उत्तराधिकार-नियम का प्रयोग मनोराज्य में करके मानसिक विवर्तन या बुद्धि के क्रम-विकाश को सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि स्मरणातीत अतीत युग में हमारे असभ्य पूर्व पुरुषों ने जो चेष्टा, चिंतन और इच्छा की थी वह वंश-परंपरा-क्रम से, चक्रवृद्धि-नियमानुसार बढ़कर पिता से पुत्र में, पुत्र से पौत्र में, उत्तराधिकार द्वारा संक्रमित हुई और धीरे धीरे एकत्र होकर आज सभ्य मानव-शिशु के मस्तिष्क में विकसित बुद्धि के रूप से प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार हमारे जिस पूर्व पुरुष को पाँच तक गिनना भी नहीं आता था वही, वंश-परंपरा-क्रम से, उत्तराधिकार-सूत्र द्वारा एकत्र संस्कारों को संतान में संक्रमित करके न्यूटन और शेक्सपियर का पिता हुआ है। अतएव स्पष्ट है कि डार्विन और स्पेंसर ने जिस विवर्तन-वाद की प्रतिष्ठा की है उसका यह मूल-सूत्र यदि किसी प्रकार शिथिल हो जाय तो विवर्तन-वाद का लंबा-चौड़ा महल बालू की दीवार की तरह गिर पड़ेगा।

डार्विन के Pangenesis का बहुत समय तक वैज्ञानिक-समाज में खूब आदर हुआ था; किंतु समय पर जर्मनी में एक विख्यात जीव-विज्ञान-वेत्ता का उदय हुआ। उसने अकाट्य वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा इस मत-वाद का खंडन कर दिया।

इस विज्ञानी का नाम विसमैन (Weismann) था। इसने प्रमाणित कर दिया कि जिस बीज से संतान की देह का आरंभ होता है वह बीज जनक के समूचे अंग से नहीं संतृत होता, बल्कि माता-पिता के शरीर में Germ-Plasm नामक जो एक विचित्र वस्तु है उससे बालक उत्पन्न होता है*। उसके मत से Germ-plasm बीजाणु के केंद्र में छिपा रहता है और सुयोग पाकर पितृगत योग्य पुं-बीजाणु (Germ-cell) मातृगत योग्य स्त्री-बीजाणु के साथ मिलकर संतान का बीजारोपण करता है। यहाँ पर भी वही "योग्यं योग्येन योजये" वाली बात है। विज्ञान की भाषा में इस संयोग को Gameto-genesis कहते हैं। इसके फल से मिलने योग्य दो बीजाणु परस्पर मिलकर एक Zygote को उत्पन्न करते हैं। Zygote = संतानबीज या भ्रूणाणु†।

---

* All parts of the body do not contribute to produce a germ from which the new individual arises but that on the contrary the offspring owes its origin to a peculiar substance of extremely complicated structure—the germ-plasm.—Weismann.

A special organised and living hereditary substance, which in all multicellular organisms, unlike the substance composing the perishable body of the individual, is transmitted from generation to generation. This is the theorv of the continuity of the germ-plasm.—Weismann.

Weismann located the germ-plasm in the nuclei of the germ-cell.

† The moderm name for this process as it occurs in either sex, is gameto-genesis, as we have seen, its results being the gametes or marrying cells, which are

जो एक मिलन-योग्य पुं-बीजाणु (Male gamete) और एक मिलन-योग्य स्त्री-बीजाणु (Female gamete) शुक्र-शोणितसंयोग से मिलित होकर भ्रूणाणु या Zygote को उत्पन्न करते हैं वह भ्रूणाणु या Zygote ही भ्रूण का बीज है। प्राकृतिक नियम से परिपुष्ट होने पर उस भ्रूणाणु के ठीक बीच में से दो टुकड़े हो जाते हैं। फल यह होता है कि एक कोषाणु के स्थान में ठीक उसके अनुरूप, सब बातों में एक से, दो कोषाणु उत्पन्न हो जाते हैं। विज्ञान की भाषा में इसे Duplication (द्विकरण) कहते हैं। इन दोनों कोषाणुओं में से प्रत्येक के फिर दो टुकड़े हो जाते और दो दो सदृश कोषाणु उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार एक से अनेकों का जन्म होता है* ।

द्विकरण (duplication) प्रणाली द्वारा बीज-भ्रूणाणु से जो बहुत से कोषाणु उत्पन्न होते हैं वे सब शीघ्र ही specialised होकर अर्थात् विशिष्ट आकार धारण करके तीन

---

the final ripe germ-cells, capable of making to form the new individual or zygote.—Harmsworth's Popular Science, p. 1998.

* The embryo, when it starts its life is but one cell (the Zygote) made up of the materials contributed by the father cell (Spermatozoon) and the mother cell (Ovum) * * As the embryo develops from this zygote, it is by a process of duplication. Quickly the new cells are specialised into three main layers known as the Entoderm, the Mesoderm and the Ectoderm. From these groups of cells, known as the somatic or body-cells, are produced all the parts of the new creature.

स्तवकों में सज्जित होते हैं। एक स्तवक से (जिसका वैज्ञानिक नाम Ecto-derm है) भ्रूणस्थ बच्चे के स्नायु और चमड़ी का गठन होता है। दूसरे स्तवक से (जिसका वैज्ञानिक नाम Meso-derm है) पेशियाँ और हड्डियाँ बनती हैं। तीसरे स्तवक से (जिसका वैज्ञानिक नाम Ento-derm है) भ्रूणस्थ बच्चे के यकृत् और फेफड़े आदि बनते हैं। इसलिये इन तीनों स्तवकों के कोषाणुओं का नाम Somatic या Body cells अर्थात् शरीरारम्भक कोषाणु है।

विसमैन के पहले भी इन बातों को वैज्ञानिक लोग जानते थे। विसमैन ने एक नई बात का आविष्कार किया और उसके द्वारा जीव-विज्ञान में जो युगांतर उपस्थित कर दिया वह यही है। विसमैन ने प्रतिपन्न किया कि बीज-भ्रूणाणु (Zygote) ही शरीरारम्भक कोषाणुओं को जन्म नहीं दे देता है, बल्कि उसका थोड़ा सा अंश, एक विशेष जातीय कोषाणु, (जिसका वैज्ञानिक नाम Germ-cell अर्थात् संतानोत्पादक कोषाणु है) उस कोषाणु की रचना करता है। बच्चे का जब जन्म होता है तब वह इन सब संतानोत्पादक कोषाणुओं को साथ लिए आता है। लड़के के मुश्क (testicles) और लड़की की जरायु (ovary) में ये बीजाणु गुप्त रूप से रक्षित रहते हैं। जब यह लड़का या लड़की किशोर अवस्था से युवावस्था की सीमा में पहुँचता और संतान उत्पन्न करने योग्य होता है तब पूर्वोक्त रीति से पुरुष के शरीर के इन germ-cell संतानोत्पादक

कोषाणुओं में से एक मिलन-योग्य पुं-बीजाणु (male gamete) स्त्री के शरीरस्थ संतानोत्पादक कोषाणुओं में से एक मिलन-योग्य स्त्री-बीजाणु (female gamete) के साथ मिलकर एक नए भ्रूण को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वंश-परंपरा-क्रम से संतान के जन्म द्वारा सृष्टि का सिलसिला चलता रहता है। पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र, पौत्र से प्रपौत्र और प्रपौत्र से वृद्ध-प्रपौत्र इत्यादि के क्रम से संतान, सृष्टि के मूल-बीज उन Germ-cell की अंगीभूत Germ-plasm है; वही वंशानुक्रम से पिता से पुत्र में संचरित होती है। अतएव Germ-plasm ही वास्तव में संतान-बीज है*। प्रति दिन की जीवन-घटनाओं

---

* Now it was Weismann's great discovery that the original zygote, from the commencement of its life, put aside a part of its material for a special type of cell known as the germ-cell; and that when the new individual comes to maturity and propagates, it is only one of these germ-cells that is used * * * We will suppose that the conjugation of a male gamete and a female gamete has taken place and that we have the new entity, the Zygote with 16 chromosomes. This zygote gives off two types of cells, the somatic or body-cells and the germ-cells. The germ-cells are carefully put aside while the body-cells are at once differentiated into the Ectoderm cells which give rise to the skin, the hair, the nervous system, the membranes of the mouth and the nose, etc., into the Mesoderm cells which give rise to the muscles, the bones, the connective tissues of the body, etc., and into the Entoderm cells which give rise to the linings of the trachea and lungs, the cells of the liver, pancreas, thyroid, etc. These body cells then have the task of building up the organism and old cells are broken up and new ones made, in the wear and tear of living}

के साथ इस Germ-cell का कोई संबंध नहीं है। वे यौवन आने तक यौन शरीर-कोष (sexual glands) में, सुरक्षित दशा में, बेखटके बने रहते हैं और फिर संतान उत्पन्न करने का समय आने पर एक पुं और एक स्त्री-बीजाणु (gamete) को छोड़ देते हैं। इन दोनों बीजाणुओं के संमिलन से भ्रूणबीज (Zygote) या भ्रूणाणु की उत्पत्ति होती है। इस भ्रूणाणु का प्राचीन नाम कलल है।*

जब यह बात है तब फिर डार्विन का Pangenesis वाद किस प्रकार ठहर सकता है? वास्तव में अब इस मत को, असार और अवैज्ञानिक समझकर, वैज्ञानिक लोग मानते ही नहीं हैं† और विसमैन के सिद्धांत की ही पंडित-समाज में प्रतिष्ठा है।

What in the mean time are the germ-cells doing? Practically nothing. The germ-cells are carefully put away in certain protected sexual glands and remain in abeyance till the time of puberty. Then they multiply but still keep together in their own place and do not mingle with the organism.—Theosophy and Modern Thought, p. 18.

* The germ-cells of both parents (when they have attained maturity) get ready for propagation and give off some marrying cells or gametes. Then a male gamete conjugates with a female gamete and the result is a zygote. This new zygote now begins its independent existence. It duplicates itself and differentiates its cells into the two main groups, the body-cells and the germ-cells.

† There is no evidence that the various parts of the body send any contribution to form, in their aggregation, the germ-cells. We have clear evidence that the germ-cells have an entirely different origin, that in short, they are not made from the body which shelters them.

यदि डार्विन का Pangenesis-वाद शिथिल हो गया; पिता से प्राप्त गुण या विशेषता के उत्तराधिकार-सूत्र द्वारा संतान में संक्रमित होने की उनकी, प्रचारित की हुई, 'थ्योरी' यदि निराधार सिद्ध हो गई, तो हर्बर्ट स्पेंसर ने मनोराज्य में इस 'थ्योरी' का प्रयोग करके जो मानसिक विवर्तन सिद्ध करने की प्रचेष्टा की थी वह प्रचेष्टा ही किस आधार पर बनी रहेगी? इसलिये जीव-विज्ञानवेत्ता पंडितों को लाचार होकर कहना पड़ा है कि मानसिक गुण का उत्तराधिकार-नियम से संतान में संक्रमित होना प्रमाण से बिलकुल सिद्ध नहीं होता* ।

वास्तव में जो लोग डार्विन के नव्य शिष्य हैं, जिन्हें Neo-Darwinians कहा जाता है, उन्होंने पिता-माता के उपार्जित गुण का उत्तराधिकार-सूत्र से संतान में संक्रमित होना असंभव मान लिया है† ।

Darwin's theory of pangenesis must be definitely abandoned.—Harmsworth's Popular Science.

* We are compelled to reject his explanation of the origin of instincts in ancestral habits, which have gradually become accumulated and ingrained in the very tissue of the offspring. The evidence against this view, and against any such inheritance in the realm of mind, is now overwhelming. It is necessary, also, to add that we have no other explanation which satisfies the mind to offer in place of Spencer's.

—Harmsworth's Popular Science, p. 1160.

† Darwin accepted this idea (transmission of acquired character) but found it inadequate. But Darwin's modern followers, the neo-Darwinians, reject what he was content to accept ** On our modern view of the

कारण यह है कि पिता-माता ने जिन गुणों को उपार्जित किया है उनका संस्कार यदि कहीं संरक्षित रहता है तो वह Germ-cell में नहीं रहता है, वह तो Body-cell में रहता है। हम देख चुके हैं कि संतान उत्पन्न करने में इस Body-cell या शरीरारंभक कोषाणु की कुछ भी कार्यकारिता नहीं है। उस कार्य का निर्वाह तो Germ-cell या संतानोत्पादक कोषाणुओं के जिम्मे है। यदि यह बात है और जब डार्विन का Pangenesis असार सिद्ध हो गया है तब पिता से प्राप्त गुण को, संतान में संक्रमित होने के लिये, सुयोग या संभावना ही कहाँ है? अतएव प्रकट है कि डार्विन और स्पेंसर ने क्रम-विकाश के जिस मूलसूत्र का अवलंबन किया था वह न केवल शिथिल है, बल्कि एकदम विध्वस्त हो गया है*। इसलिए

---

germ-plasm and germ-cells it is inconceivable that such effects could be transmitted. * * * What modern biology then denies is the transmission of functional modifications—such as the biceps of the blacksmith, the linguistic faculty of the scholar and so forth.

* We go to Darwin for his incomparable collection of facts, we would fain emulate his scholarship, his width, and his powers of exposition, but to us he speaks with no authority. We read his scheme of evolution, delighting in its simplicity and its courage—Professor Bateson in his address to the British Association in 1914.

If individually acquired gains could be entailed, the same would also apply to individually acquired losses. Why are not modifications transmitted? Actually because of any arrangement, so far as we know, for seeing that modifications can affect the germ-cells in a manner so specific that the offspring also exhibit the same modi-

इस मत से विवर्तन निराधार हो रहा है और इस प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं मिलता कि प्राकृतिक नियम से क्रम-विकाश किस प्रकार सिद्ध होता है। इसी लिये वर्त्तमान युग के इँग-लैंड के प्रधान जीवतत्त्ववेत्ता अध्यापक बाटसन (Bateson) ने, डार्विन और हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा प्रवर्तित पितृलब्ध गुण के उत्तरा-धिकार नियम को अस्वीकार करके, कहा है कि यद्यपि ऐसा उत्तराधिकार अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक है तो भी क्रम-विकाश को सिद्ध करने के लिये हम किसी दूसरी प्रणाली का आविष्कार नहीं कर सकते। अध्यापक बाटसन की यह उक्ति ठीक नहीं है; क्योंकि इस समस्या को हल करने में पाश्चात्य विज्ञान के असमर्थ होते हुए भी इस क्षेत्र में प्राच्य प्रज्ञान चुप नहीं है। प्राच्य प्रज्ञान का कहना है कि विवर्तन देह-गत नहीं, जीव-गत है। जीव इस जन्म में क्रम-विकाश की जिस सीढ़ी पर पहुँचा है वह उन्नति, संस्कार रूप में, उसमें रक्षित रहेगी ही और अगले जन्म में वह उस संस्कार का अधिकारी होकर अवश्य जन्म लेगा। इस प्रकार जीव एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में उन्नति की मंजिलें तय करता हुआ आगे बढ़ रहा है।

---

fication, or some approximation towards it. From the point of view of real welfare, modifications are not entailed because an advantageous constitution is thus saved from being damaged by dints and buffetings incident on the chequered life of the individual body.

—Professor I. I. Thomson's Control of Life.

जीव ने पहले स्थावर रूप में जन्म लिया; फिर क्रम-विकाश के फल से स्थावर-राज्य को लाँघकर वह जंगम-राज्य में पहुँचा है। जंगम-राज्य में पहुँचकर पहले उसने सरीसृप की देह ग्रहण की। फिर क्रमशः वह विवर्तन के फल से सरीसृप से पक्षी हुआ और पक्षी से पशु की देह में पहुँचा। पशु-राज्य के भिन्न-भिन्न स्तरों में अनेक जन्म बिताकर अंत में जीव को मनुष्य-देह धारण करने की योग्यता मिली। मनुष्ययोनि में भी पहले वह असभ्य, उसके बाद अर्द्ध-सभ्य और अंत में सुसभ्य मनुष्य हुआ है। किंतु यहाँ पर भी उसका क्रम-विकाश पूरा नहीं हो गया है। मनुष्य के पश्चात् अति मनुष्य का नंबर है। मनुष्यता की सीमा लाँघ चुकने पर जीव अंत में जीवन्मुक्त होता है। यही क्रम-विकाश का अंतिम सोपान है और इसी सोपान पर चढ़ने के लिये प्रकृति-सिद्ध सीढ़ो है "यह जन्मांतर-वाद"।

पंचम अध्याय

सरकना या कूदना

उद्भिद्-जगत् और प्राणि-जगत् में जातियों के बीच श्रेणी-विभाग (जिसे Species कहते हैं) प्रत्यक्ष सिद्ध है। किंतु प्रश्न यह है कि एक जाति में विभिन्न उपजातियाँ अथवा श्रेणियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं? जाति में नई नई उप-जातियाँ उत्पन्न हुई हैं या हो रही हैं, इसमें तो संदेह है ही नहीं। किंतु प्रश्न यह है कि ये उपजातियाँ किस प्रकार बनी हैं? बेटे का बाप जैसा ही होना कुछ विचित्र नहीं है, बल्कि ठीक और स्वाभाविक है। किंतु क्या यह विचित्र नहीं है कि बेटा बाप से भिन्न हो, स-रूप न होकर वि-रूप हो और वि-रूप होकर नई उपजाति बनावे? और यह विचित्र काम प्राकृतिक राज्य में नियत रूप से हो रहा है। विज्ञान की भाषा में इसका नाम Origin of Species या उपजाति की सृष्टि है। इस प्रश्न का उत्तर क्या है?

हमको मालूम है कि डार्विन-स्पेंसर-प्रमुख पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत से पिता-माता के उपार्जित गुण वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में धीरे-धीरे उपचित होकर, अर्थात् विलंबित क्रम से बढ़कर, बहुत दिनों के बाद जब सुस्पष्ट रूप धारण कर लेते हैं तब एक जाति से अभिनव उपजाति अथवा

श्रेणी उत्पन्न होती है। इसी लिये डार्विन कहते थे कि प्रकृति कभी कूदती नहीं है (never leaps); वह तो मंथर-क्रम से धीरे धीरे आगे बढ़ती है अर्थात् सरकती जाती है। एक ही माता-पिता की संतान में स्वभाव से जो सूक्ष्म भेद या विशेषताएँ (Minute Variations) होती हैं उन विशेषताओं में से प्रकृति किसी एक को चुन लेती है और पीढ़ी दर पीढ़ी धीरे-धीरे उसका संग्रह करके युगांत में एक नई श्रेणी को उत्पन्न कर देती है*।

माता-पिता के उपार्जित गुण संतान में संक्रमित होते हैं या नहीं, इसकी आलोचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। अब हमें यह देखना है कि विज्ञान का कल्पित किया हुआ यह विलंबित क्रम प्रमाण से सिद्ध है या नहीं।

---

* Darwin's theory was that organic evolution was by the natural selection of *minute* variations which were incessantly occurring in all directions, from generation to generation of all living creatures.

—Popular Science, Vol, IV. p. 2237.

According to Darwin, species must arise very *slowly*; one or more variations first arise spontaneously, then nature 'selects' one of them as the fittest to survive; this variation is then added to, and the addition is passed on to the next generation. It is thereore only by a *slow* process of addition that the characters which mark the new species can arise. Nature, said Darwin, does not make leaps but creeps along.—Theosophy and Modern Thought, p. 22.

The aphorism 'Natura non facit saltum' turns up so often in his pages.

पाश्चात्य वैज्ञानिकों में एक बड़ी अच्छी विशेषता है; वे दूसरे के चुल्लू से पानी नहीं पीते, दूसरे के सिद्धांत को बिना सोचे-समझे आँख मूँदकर नहीं मान लेते। वे स्वयं परीक्षा-समीक्षा करके तत्त्व को निर्धारित करते हैं। यहाँ पर भी यही हुआ। अन्यान्य प्राणितत्त्ववेत्ताओं ने डार्विन के इस विलंबित क्रमवाद (Theory of Minute Variations) को शिरोधार्य न करके, इस संबंध में स्वाधीनतापूर्वक अनुसंधान करना आरंभ कर दिया। खोज करने पर यह प्रमाणित हुआ कि उपजातियों की रचना करने में प्रकृति रेंगती नहीं है, बल्कि कुलाँच भरती है। अर्थात्—Nature leaps and does not creep.

थोड़े से उदाहरण दे देने से इस बात का खुलासा हो जायगा। १७९१ ईसवी में, भेड़ों के एक झुंड में, अकस्मात् एक नई उपजाति उत्पन्न हो गई थी*। इन्हें आजकल एन्कन भेड़ (Ancon sheep) कहते हैं। यह भेड़ साधारण भेड़ों की अपेक्षा विशेषतायुक्त स्वतंत्र श्रेणी का जंतु है और मजा यह कि इस उपजाति के माता-पिता उन्हीं साधारण भेड़ों में से थे। इस उपजाति का उदय अकस्मात् कहाँ से हो गया? प्रकृति की खिलवाड़ (Sport) से यह उपजाति अकस्मात् उत्पन्न होकर दुनिया

---

* In 1791 there arose *suddenly* among a flock of ordinary sheep, a new variety, that is now known as the Ancon sheep.

से लुप्त नहीं हो गई बल्कि स्थायी आकार धारण करके पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ने लगी।

एक और नई उपजाति के अकस्मात् उदित होने का उदाहरण 'शरली पोपी' (Shirley Poppy) है। १८८० ईसवी में शरली के धर्माचार्य रेवरेंड विलक्स ने देखा कि उनके बागीचे के एक कोने में, साधारण पोस्त के पौदे में, एक नए ढँग का फूल खिल रहा है। उस फूल का बीज लेकर उन्होंने दूसरी जगह बो दिया। यथासमय उस बीज से अंकुरित होकर जो वृक्ष उत्पन्न हुए, उनके फूलने पर देखा गया कि उनमें से चार-पाँच पेड़ों में वही नया फूल खिला है। अब उस फूल का नाम 'शरली पोपी' हो गया है। बागीचों में अब वह नियमपूर्वक बोया जाता है*। यहाँ भी ध्यान देने

---

* Mr. R. H. Lock, a prominent botanical student of heredity, writes as follows :—

"Of the origin of a new type of plant in this definite, and *sudden* fashion, the Shirley poppies furnish an excellent example. These originated in a mutation of the common wild poppy. In 1880 Rev. W. Wilks, Vicar of Shirley, near Craydon, noticed among a patch of this plant growing in a waste corner of his garden a solitary flower, the petals of which showed a very narrow border of white. The seeds which this flower produced were sown, and next year, out of about two hundred plants, there were four or five upon which all the flowers showed the same modification. From these, by further horticultural processes, the strain of Shirley poppies "originated."—Harmsworth's Popular Science, Vol, IV, p. 2239.

की बात यह है कि उक्त शरली पोपी साधारण पोस्त के पौदे से उत्पन्न हुआ है सही, किंतु वह एक नई उपजाति का है और प्राणि-जगत् में स्थायी रूप से वंश बढ़ाकर प्रतिष्ठित हो गया है। यह उपजाति भी धीरे-धीरे पीढ़ी दर पीढ़ी में उपचित होकर विलंबित क्रम से उत्पन्न नहीं हुई है—अकस्मात् एक ही उछाल में उत्पन्न हो गई है।

प्रकृति के छलाँग मारने का हम एक और उदाहरण देंगे। वह उदाहरण 'सांध्य प्रिमरोज' (Evening Primrose) है। इस पेड़ का थोड़ा सा चारा हालैंड से लाया जाकर विदेशों की मिट्टी में लगाया गया। इसकी संतान में से अकस्मात् दो नई श्रेणियों का उदय हुआ। अर्थात् जिन विशेषताओं के होने से स्वतंत्र उपजाति (Species) मानी जाती है वे सब लक्षण इन दोनों नई श्रेणियों के फूलों में वर्तमान हैं। इसे निसर्ग का एक अस्थायी खेल नहीं कह सकते; यह तो एक दृढ़बद्ध स्थायी उपजाति है जिसका उदय हमारी नजर के सामने अतर्कित भाव से अकस्मात् नहीं हो गया है*।

विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता डी० व्राईस (De Vries) ने इस 'सांध्य प्रिमरोज' की बहुत जाँच-पड़ताल की है। इससे उनका सिद्धांत और भी दृढ़ हो गया कि नैसर्गिक नियम से—

---

* All these new forms are true species and constant; they are not sports which appear once, but permanent species, which are now being cultivated.—Theosophy and Modern Thought, p. 24.

धीरे धीरे पैर उठाकर, विलंबित क्रम से नहीं—एक ही कुदान में एक पुरुष से दो नई उपजातियों का उदय हुआ है* । तब डी व्राईस ने डार्विन के प्रचारित प्रसर्पण-वाद के विरुद्ध अपने, आजकल प्रख्यात, प्लुतसंचार-वाद (Mutation Theory) का प्रचार किया उस मत का सार यह है कि पुरानी जाति से नई उपजाति बना देना निसर्ग का मनमाना स्वयंसिद्ध आकस्मिक काम है† ।

---

* Certain specimens of this plant (Evening Primrose) escaped from a garden in Holland, and De Vries found among the 'escapes' or their offspring, two *distinct new forms*, each unlike all the rest. Each occurred in a separate patch, as if a single plant had borne all the new individuals in each case.

De Vries made full use of his remarkable opportunity, and the first fact which he discovered was that the seeds of these plants, when sown in his garden, produced offspring like the parents. In a word, two new species had actually been observed and proved to arise from an old one in a state of nature.—Harmsworth's Popular Science, Vol. IV, p. 2240.

† According to De Vries' Theory of Mutation, new species arise by single steps as definite novelties, just in the same way as we find that domestic varieties are produced. More than this, De Vries believes that he has discovered a set of new species in the very act of originating from an old one in this way, a discovery which affords the basis and groundwork of the views which he puts forward. * *

Finally, we must note the essential feature of this theory, which is the *accidental* character of the variations that make the evolution possible. The variations are regarded as *absolutely fortuitous*, to use the accepted term, some are in one direction, some in another, the

अब क्या था, वैज्ञानिक-मंडली में हलचल मच गई। बहुत लोगों ने नए सिरे से बहुत कुछ छान-बीन और जाँच-पड़ताल की। किसी किसी को याद आ गया--ओह! अध्यापक हक्सले ने भी इसी ढँग की बात कही थी तो सही; किंतु उन्हें तनिक और आगे बढ़ना चाहिए था। क्योंकि निसर्ग का बीच बीच में कुदान देखा जाता है*।

कुछ दिन तक डार्विन के दल के साथ डी व्राईस के दल का खासा वाद-विवाद होता रहा। धीरे धीरे डार्विन का दल कमजोर होने लगा; क्योंकि इस विवाद में 'प्रमेय' (Theory) ने मोहिनी मूर्ति धारण कर डार्विन के पक्ष को ग्रहण किया सही किंतु वस्तु-स्थिति (Facts) सज्जित होकर डी

---

only law which governs their productions and occurrence is the *law of chance.*—Harmsworth's Popular Science, p. 1284.

* We believe that *Nature does make jumps now and then*, and a recognition of the fact is of no small impor tance in disposing of many minor objections to the doctrine of transmutation.—Huxley.

The argument of De Vries and his School to-day is that Huxley here was right, and would have been still more right had his criticims been far stronger. Nature does sometimes make leaps, or 'saltations', as they are sometimes called, and these leaps or jumps (*cf.* the word salient, from the same Latin root, to describe what jumps or dances above its fellows) are none other than the 'mutations' of De Vries, in which, as against the minute variations accredited by Darwin, he and his School believe the origin of species to occur.—**Harms' worth's** Popular Science, Vol. IV, p. 2238.

व्राईस के पक्ष में जा खड़ी हुई। अतएव सत्यरूपी जनार्दन ने डी व्राईस के प्लुतसंचार-वाद को विजयी किया। अब विवर्तनवादियों के मुँह से विलंबित क्रम की बात बहुत अधिक नहीं सुन पड़ती; अब तो वे यह कहने लगे हैं कि प्राणिशरीर का परिवर्तन (जिसके द्वारा नई उपजाति का उदय होता है) मनमाना, स्वयंसिद्ध, अतर्कित और आकस्मिक है*। अतएव यह प्रसर्पण है या प्लुतसंचार? इस प्रश्न का उत्तर है—प्रसर्पण नहीं, प्लुतसंचार। इस आकस्मिक परिवर्तन का निदान क्या है? यह किस प्रकार सिद्ध होता है?—यह भी एक समस्या है। इसका सदुत्तर देने के लिये हमें उस पर विचार करना होगा जिसे वैज्ञानिक लोग आजकल 'मेंडेलिज्म' कहते हैं। किंतु इसकी आलोचना करने से पहले हम अगले अध्याय में डार्विन के तृतीय सूत्र—अर्थात् विवर्तन एक यंत्रसिद्ध कार्य है, इस मत—की सत्यता के संबंध में अनुसंधान करेंगे।

---

* Absolutely *random* variations, conveniently called 'spontaneous' and without any tendency, bias or predilection in any direction whatever have furnished the materials which natural selection has fixed in the form, say of the eye, the internal ear, etc.—Harmsworth, p. 1161.

षष्ठ अध्याय

आधिभौतिक या आध्यात्मिक

हमको मालूम हो गया है कि पाश्चात्य विवर्तन-वाद के तीन मूल-सूत्र हैं—(१) पिता-माता के अर्जित गुणों का उत्तराधिकार नियम से संतान में संक्रमित होना; (२) पीढ़ी दर पीढ़ी में इस अर्जित गुण का मंथर गति से, विलंबित क्रम द्वारा, प्रसर्पण; (३) पारिपार्श्विक अवस्था के दबाव से (Natural selection) या प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा सबसे योग्य व्यक्ति का उद्वर्तन (Survival of the Fittest)। ये तीनों नियम आंशिक भाव से सत्य हैं; तीनों के द्वारा जीव के क्रम-विकाश में सहायता मिलती है। किंतु पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग जिस प्रणाली से इन नियमों का प्रयोग करना चाहते हैं वह क्या ठीक है? हम पिछले अध्याय में छान-बीन कर चुके हैं कि उत्तराधिकार-नियम से अर्जित गुण का संतान में संक्रमण और विलंबित क्रम से उक्त गुण का वंशपरंपरा द्वारा संचारण, ये दोनों मत प्रमाणों से सिद्ध हैं या नहीं। हम इस अध्याय में इस बात पर थोड़ा सा विचार करेंगे कि पारिपार्श्विक अवस्था के दबाव से प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा योग्यतम व्यक्ति का उद्वर्तन कैसा क्या होता है। हम देखने की चेष्टा करेंगे कि यह नियम किस प्रणाली से, कहाँ तक,

किस तरह काम देता है; और इसके द्वारा मालूम हो जायगा कि विवर्तन देह-गत नहीं, जीव-गत है—आधिभौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। वास्तव में यहीं पर पाश्चात्य विज्ञान और प्राच्य प्रज्ञान के बीच बहुत बड़ा अंतर है। पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि बाहर की ओर अत्यधिक है और भीतर की ओर बहुत ही कम है। पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग देह की बात ही करते और समझते हैं; वे देही की बात पर उतना ध्यान नहीं देते। इसी से पाश्चात्य विज्ञान आज भी अंतिम सत्य के उच्च शिखर पर नहीं पहुँच सका है। उस असमर्थता का बढ़िया नमूना यही विवर्तनवाद है।

बात का खुलासा करने के लिये हमें उस जिराफ की उत्पत्ति का विवरण और एक बार याद करना चाहिए। चौपायों के बीच हिरन और जिराफ बहुत सी बातों में बहुत कुछ एक सा है। अतएव इन दोनों श्रेणियों के जंतुओं को एक मूल-जाति से उत्पन्न उपजाति (Species) समझना अनुचित नहीं है। एक ऐसा भी समय था जब हिरन या जिराफ में से कोई भी न था—था एक और ही जंतु जो उन दोनों का पुरखा था। वह न तो हिरन था और न जिराफ ही। हम इस जंतु का कल्पित नाम रखे लेते हैं 'हिरण्य'। हिरण्य की संतान हिरण्य होगी ही। यों समझिए कि एक बड़े लंबे-चौड़े जंगल में, किसी प्राचीन युग में, यह हिरण्यजातीय जंतु वंश-वृद्धि करके विस्तृत रूप से रहता है।

लंबा-चौड़ा जंगल है। उसके एक हिस्से में खाने की चीजें कम तादाद में मिलने लगीं। हिरण्य जाति मांस खाती नहीं है—पेड़ों की पत्तियाँ चरती है, किंतु हम जिस समय की बात कह रहे हैं उस समय पत्तियाँ या घास कुछ न बचा। ऊँची-ऊँची डालियों पर हिरण्यों की खूराक पत्तियाँ रह गईं। यह दशा हो जाने पर उस भारी जंगल के जिस हिस्से में यह संकट उपस्थित हुआ वहाँ रहनेवाले हिरण्यों की क्या दशा हुई? बहुत से तो मर गए, और कुछ की गर्दन पारिपार्श्विक दशा के दबाव से कुछ लंबी हो गई। इस प्रकार जिनकी गर्दन साधारण की अपेक्षा कुछ लंबी हो गई वे जीवन-संग्राम में बच रहे; और जिनकी गर्दन पहले की ही तरह छोटी बनी रही वे जीवन-संग्राम में मर मिटे। अब जिनकी गर्दन कुछ लंबी बढ़ गई थी उन्हीं का वंश बढ़ा और उत्तराधिकार नियम से उनकी लंबी गर्दन उनके बच्चों को भी मिली। इस दर्मियान उस वन में खूराक का संकट पहले की तरह बना ही रहा। पहले तो नीचे की डालियों में पत्तियाँ मिल भी जाती थीं किंतु अब विरल देख पड़ती थीं। फल यह हुआ कि पारिपार्श्विक दशा (Environment) के दबाव से उन साधारण लंबी गर्दनवाले हिरण्यों की गर्दन और भी लंबी हो गई और इन्होंने अपने से कुछ छोटी गर्दनवाले जाति-भाइयों को जीवन-संग्राम में परास्त करके अपना वंश फैलाया। इस प्रकार लंबी गर्दन होने का गुण वंशपरंपरा-क्रम से

(Natural selection) या नैसर्गिक निर्वाचन द्वारा कुछ हिरण्यों में स्थायी रूप से दृढ़बद्ध हो गया। इसने लंबी गर्दन का क्रम-विकाश करके लंबी गर्दनवाली नई जिराफ उपजाति को उत्पन्न कर दिया। इस प्रकार हिरण्य जाति के जंतु से जिराफ नामक एक नई श्रेणी (Species) उत्पन्न हुई।

जिस जंगल में हिरण्य जाति रहती थी उसके एक ओर हिस्से में व्याघ्र का उत्पात होने लगा। पास के एक पहाड़ से कुछ व्याघ्र उस जंगल में आ गए। वे वहाँ के हिरण्यों को मार मारकर खाने लगे। पहले इस जंगल में कभी बाघ का उत्पात नहीं हुआ था। हिरण्य बेखटके होकर पत्तियाँ चरते फिरते थे। अब उन पर बड़ी आफत आई। बदली हुई पारिपार्श्विक दशा के कारण किसी किसी हिरण्य की चाल और हिरण्य से कुछ तेज हो गई। "यः पलायति स जीवति" की पुरानी नीति के अनुसार जिन हिरण्यों की चाल कुछ तेज थी वे तो बाघ के पंजे से बचकर भाग खड़े हुए और अपनी अपेक्षा सुस्त चालवाले जाति-भाइयों को परास्त करके बच रहे और जिनकी चाल सुस्त थी वे सभी हिरण्य बाघ के पंजे में पड़कर मर गए। जिन हिरण्यों की चाल कुछ तेज थी उन्होंने उत्तराधिकार-नियम से अपनी तेज चाल का गुण संतान में संक्रमित कर दिया। किंतु उस वन में बाघों का डर कम होने के बदले और भी बढ़ता गया। मांसलोभी नए-नए बाघों ने आकर उस वन में अड्डा जमा लिया। फल यह हुआ कि पारिपार्श्विक दशा के

दबाव से उन तेज चालवाले हिरण्यों की गति और भी तेज हो गई और वे ही अपनी अपेक्षा मंद गतिवाले जाति-भाइयों को जीवन-संग्राम में पराजित करके रह गए और अपना वंश फैलाने लगे। इस प्रकार तेजी से दौड़ने का गुण, वंशपरंपरा के क्रम से, नैसर्गिक निर्वाचन के फल-स्वरूप कुछ हिरण्यों में स्थायी और दृढ़बद्ध हो गया तथा इसने क्रम-विकाश साधन करके फुर्ती से भागनेवाले हरिणों की एक नई श्रेणी उत्पन्न कर दी।

हम यह नहीं कहते हैं कि हिरन और जिराफ बिलकुल इसी प्रणाली से उत्पन्न हुए हैं; हमारा यह विवरण तो उप-जातियों की सृष्टि के उस ढँग के अनुसार है जिसे कि डार्विन और स्पेंसर प्रभृति पाश्चात्य वैज्ञानिक लोग Origin of Species सिद्ध करना चाहते हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि प्राणिजगत् में परिवर्तन होकर जो नई उप-जाति उत्पन्न होती है उसका मूल कारण उक्त वैज्ञानिकों के मत से पारिपार्श्विक अवस्था का परिवर्तन है*। अर्थात् यह तो एक यन्त्रसिद्ध (Mechanical) काम है। यह मत युक्ति-सिद्ध है अथवा नहीं, और वैज्ञानिक अनुसंधान से जो नए तथ्य आजकल आविष्कृत हुए हैं उनके अनुकूल यह मत है या नहीं?

इस बात को तो शायद अब सभी मान लेंगे कि बाइबिल में प्राणियों की सृष्टि का जो यह वर्णन है कि पृथ्वी जब पानी

---

* Species undergo changes and modifications through change of surrounding.

में डूब गई तब नाव पर सवार होकर 'नूह' ने सब जीव-जंतुओं का एक एक जोड़ा साथ में रख लिया, सो यह विवरण काल्पनिक है, सत्यतामूलक नहीं है*। हम यह मान सकते हैं कि प्राणि-शरीर क्रमोन्नति करते करते तुच्छ कोषाणु से क्रमशः उन्नति की सीढ़ियाँ लाँघता हुआ आजकल क्रम विकाश की सबसे ऊँची भूमि पर पहुँच गया है और क्रम-विकाश का स्रोत उसे और भी उच्च कर देगा। हम यह भी मानते हैं कि प्राणि-जगत् में श्रेणी-विभाग एक चिरंतन शाश्वत कार्य नहीं है; किंतु क्रमाभिव्यक्ति के फलस्वरूप एक जाति से, समय पाकर, भिन्न भिन्न उपजातियाँ उत्पन्न हुई हैं। डार्विन ने अपने Origin of Species का प्रचार करके पहले प्रचलित भूलों को दूर किया और फिर सत्य मत की प्रतिष्ठा की। इसके लिये वे सभी के धन्यवाद-पात्र हैं†। किंतु हमें यह देखना है कि प्राणिजगत् में जो भिन्न भिन्न श्रेणियाँ उत्पन्न हुई थीं अथवा हो रही हैं वे

---

* The account of Noah and his ark with pairs of everything that flew, crept or ran was fanciful and absurd, so far as we care to distinguish facts from fiction.—Hubbard's Wallace.

† "The Origin of Species" sheds light in ten thousand ways on the fact—that all life has evolved from very lowly forms and is still ascending—that species were not created by fiat, but that every species was the sure and necessary result of certain conditions.

Until "The Origin of Species" was published and for some years afterwards, the immutability of species was taught in all colleges, and everywhere accepted by the so-called learned men.—Hubbard's Huxley.

पारिपार्श्विक दशा के अवश्यंभावी फल-स्वरूप हैं या जिस प्राणी का परिवर्तन हो रहा है उसी प्राणी में उक्त परिवर्तन का बीज सर्वदा से वर्तमान था ? प्राणी के शरीर का परिवर्तन होने से ही हमारे 'हिरण्य' से एक ओर हिरन उत्पन्न हुआ और दूसरी ओर जिराफ की उत्पत्ति हुई है। तो प्राणि-शरीर में यह परिवर्तन स्वयंसिद्ध है या पारिपार्श्विक दशा से उत्पन्न हुआ है ? यदि यह परिवर्तन स्वयंसिद्ध हो तब तो डार्विन और स्पेंसर के, अनुमोदित, उपजाति बनने के 'प्रमेय' (Theory) को छोड़ देने के लिये हम विवश होंगे।

हम देख चुके हैं कि जीवविज्ञान के वर्तमानकालीन प्रधान आचार्य, जिनका मत वैज्ञानिक-समाज में आदर के साथ प्रामाणिक माना जाता है, इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राणि-शरीर में जो परिवर्तन होता है वह पारिपार्श्विक दशा से नहीं होता है; वह तो स्वयंजात, आकस्मिक और या दृच्छालब्ध है। अर्थात् प्रकृति अपनी मर्जी से (By the law of Chance) प्राणिशरीर में एक साथ अनेक परिवर्तन करा रही है। ये सब परिवर्तन एकदम आकस्मिक (Fortuitous) हैं; ये नैमित्तिक नहीं हैं, इन परिवर्तनों के लिये किसी बाहरी कारण की आवश्यकता नहीं है*।

* Finally, we must note the essential feature of this theory which is the accidental character of the variations that make the evolution possible. The variations are regarded as *absolutely fortuitous*, to use the accepted term. Some are in one direction, some in another,

इस प्रकार जब एक प्राणिशरीर से कई प्रकार के परिवर्तित शरीर मनमाने तौर पर उत्पन्न होते हैं तब उन परिवर्तित शरीरों में से जो उस समय की पारिपार्श्विक दशा के अनुकूल होते हैं वे ही बने रहते हैं और वही शरीरधारी प्राणी अपने अनुरूप संतान उत्पन्न करके इस परिवर्तन को स्थायी रूप दे देते हैं। और जो परिवर्तित शरीर पारिपार्श्विक दशा के अनुकूल नहीं होते हैं वे ठहर नहीं सकते; वे जीवन-संग्राम में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्राणिजगत् में नई उपजाति उत्पन्न होती है। इस नई उपजाति की उत्पत्ति का निमित्त-कारण पारिपार्श्विक अवस्था नहीं है, प्रकृति की मर्जी अथवा खामखयाली है। पारिपार्श्विक अवस्था के द्वारा वे उपजातियाँ स्थायी अवश्य हो जाती हैं। यह ठीक है कि पारिपार्श्विक अवस्था अनुकूल न हो तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं बच सकता; किंतु क्या इसी बिरते पर पारिपार्श्विक अवस्था को क्रमाभिव्यक्ति

---

the only law which governs their productions and occurrence is the law of chance.

* * * *

If species arise in certain variations, then the problem of the origin of species is the problem of the origin of these variations, those new forms of life, which natural selection then selects. The theory of natural selection, therefore, explains the fixation of species, the non-persistence of the non-adapted or the misfits, and the survival of the well-adapted or fit. But it tells us nothing as to the "origin of the fittest."

—Harmsworth's Popular Science, p. 1284.

का अवश्यंभावी निमित्त कहा जा सकता है* ? पारिपार्श्विक अवस्था के दबाव से प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा सबसे अधिक योग्य व्यक्ति का उद्वर्तन (Survival of the Fittest) सिद्ध होता है सही, किंतु उसके द्वारा क्या सबसे अधिक योग्य व्यक्ति का आगमन (Arrival of the Fittest) सिद्ध होता है ? और यदि सबसे अधिक योग्य व्यक्ति का आगमन न हो तो उद्वर्तन होगा ही किस तरह ?

अध्यापक हक्सले ने ठीक ही कहा है कि प्रकृति के निर्दिष्ट नियम के अनुसार न चलने से कोई भी जीवित नहीं रह सकता। यह प्रकृति का अनुवर्तन ही उन्नति का सोपान है। किंतु उन्होंने साथ ही जो यह भी कह दिया है कि प्रकृति का

---

* That adaptation to environment is the necessary condition of evolution, we do not question for a moment. It is quite evident that a species would disappear, should it fail to bend to the conditions of existence that are imposed on it. But it is one thing to recognise that outer circumstances are forces evolution must reckon with, and another to claim that they are the directing forces of evolution. This latter theory is that of mechanism. It excludes absolutely the hypothesis of an original impetus, I mean an internal push that has carried life, by more and more complex forms, to higher and higher destinies.

Yet this impetus is evident, and a near glance at fossil species shows us that life need not have evolved at all, or might have evolved only in very restricted limits, if it had chosen the alternative, much more convenient to itself, of becoming rigidly fixed in its primitive forms.—Bergson.

निजी कोई उद्देश्य अथवा लक्ष्य नहीं है, वह क्या ठीक है* ? यही कहना ठीक जान पड़ता है कि प्रकृति की लीला में कोई यंत्रसिद्ध कार्य नहीं है, बल्कि इसमें संकल्प (उपनिषदों की भाषा में जिसे इच्छा कहा जाता है) मौजूद है।

इस प्रसंग पर और भी विचार करना अप्रासंगिक न होगा। उद्भिद्विद्या में जिसे cross-fertilisation या असगोत्र (यौन) सम्मिलन कहते हैं वह पाठकों से छिपा हुआ न होगा। पशु-पक्षियों में जैसा नर-मादा का भेद होता है वैसा लिंग-भेद वृक्षों में भी बहुत साफ है। फूल ही वृक्षों में स्त्री-पुरुष हैं†। कोई फूल पुल्लिंग होता है और कोई स्त्री-लिंग। पुरुष-फूल (stamen) से उत्पन्न पराग (pollen) स्त्री-फूल (pistil) में स्थित बीज-कोष से जब संयुक्त होता है तब शुक्र और शोणित के संयोग की भाँति एक भ्रूण या संतान-बीज उत्पन्न होता है। इसी प्रणाली से वृक्षों का वंश बढ़ता है‡। अनेक वृक्षों में ऐसा देखा जाता है कि

---

* Nature has no designs nor intentions. All that live exist only because they have adapted themselves to the hard lines that nature has laid down. We progress as we comply.—Huxley.

† Flowers are the husbands and wives of plants—Grant Allen.

‡ To effect fertilisation pollen grains from the anthers of the stamens must come into contact with the ripe stigmas of the pistils. This accomplished, the ripened pollen grains germinate by pushing a slender tube into the ovary, where they reach the eggs or ovules.

स्त्री-फूल और पुरुष-फूल एक ही पेड़ में पास ही पास खिले हुए हैं। वे सगोत्र होते हैं, उनमें भाई-बहन का नाता होता है। इसलिये उनका यौन-सम्मिलन शुभ नहीं है; क्योंकि अच्छी संतान होने के लिये माता-पिता का भिन्न भिन्न गोत्री होना आवश्यक है। इसलिये प्रकृति अनेक उपाय उत्पन्न करके फूलों के असगोत्र विवाह (जिसे cross-fertilisation कहते हैं) की व्यवस्था कर देती है। फलतः उसे बड़ी चौकस बिचवानी करनी पड़ती है। इस मामले में प्रकृति-दूती जिन अद्भुत युक्तियों का उपयोग करती है उन पर ध्यान देने से बड़ा अचरज होता है। कहीं एक ही वृक्ष के पुरुष-फूल और स्त्री-फूल परस्पर मिलित होकर अनर्थ न खड़ा कर दें, इस आशंका के कारण जब स्त्री-फूल खिलता है तब उस वृक्ष के पुरुष-फूल को खिलने नहीं दिया जाता अथवा जिस समय पुरुष-फूल खिलता है उस समय उस वृक्ष के स्त्री-फूल को खिलने का मौका नहीं दिया जाता। किंतु इतना ही कर देने से तो पूरा नहीं पड़ता। वृक्ष तो स्थावर (stationary) हैं, वे पशु-पक्षियों की भाँति 'यायावर' (गतिशील) नहीं हैं। इसलिये एक फूल के पराग को दूसरे फूल के बीज-कोष के साथ संयुक्त करने के लिये प्रकृति को हिकमत से काम लेना पड़ता है। ये हिकमतें तरह तरह की और विचित्र होती हैं। कौतूहली पाठकों को उद्भिद्-विद्या की पुस्तकों में इसका विस्तृत विवरण मिलेगा। पराग को एक स्थान से दूसरे

स्थान में पहुँचाने के कार्य में प्रकृति को प्रधान सहायता भौंरों और मक्खियों से मिलती है। किंतु जो इन्हें बखशीश न मिले तो ये 'वाहक' फूल के पास फटकें भी नहीं। इसलिये प्रकृति रंग-विरंगे दल (petal) सजाकर भौंरों और मक्खियों को आकर्षित करती है और शहद का लोभ दिखाकर उन्हें फूल के भीतर अटका रखती है। समय समय पर वह शहद, फूल के भीतर, ऐसी जगह छिपा दिया जाता है जहाँ से भौंरे या मक्खी का पराग से अछूता रहकर निकल आना सम्भव नहीं। एक फूल पर से उड़कर दूसरे फूल का शहद पीने का उनका स्वभाव है। एक फूल का मधु पीकर उक्त जीव ज्योंही दूसरे फूल पर मधु पीने को जाकर बैठता है त्योंही पुरुष-फूल का पराग स्त्री-फूल के बीज-कोष के साथ मिलकर संतान-बीज को उत्पन्न कर देता है*। इन सब कामों में क्या हमें ईच्छा या संकल्प का परिचय नहीं मिलता ?

---

* Now the means devised by nature for the purpose of ensuring cross-fertilisation is to allure insects, and flies and in some cases wasps by means of flaunting advertisements in the shape of coloured petals (technically called corolla) and by offers of bribe in the form of sweet honey stored away in convenient places, so as to induce them to visit the flowers ; and as they did so, they would be sure to carry pollen on their heads and legs which they would rub off on the sticky stigma of the next flower they visited. As Grant Allen points out in his 'Story of the Plants', page 94, 'the plants finding

उद्भिद्राज्य को छोड़कर यदि हम प्राणिराज्य में प्रवेश करते हैं तो पशु, पत्ती, कीट और सरीसृपों में भी हमें निसर्ग की इस ईच्छा का परिचय मिलता है। प्राणितत्त्ववेत्ता लोग जिसे Protective variation कहते हैं उसका रहस्य क्या है? प्रकृति किसी किसी पतिंगे की सूरत उस वृत्त की जैसी कर देती है जिस पर कि वह विचरता रहता है। यह इसलिये किया जाता है जिसमें कोई पत्ती अलग देखकर उसका शिकार न कर ले। फिर छोटी चिड़ियों को बड़े पत्तियों के चंगुल से बचाने के लिये उनकी रचना उस खोंड़र के सदृश कर दी जाती है जिसमें कि वे छिपी रहती हैं। बहुत से ऐसे साँप हैं जिनकी सूरत-शकल वृत्त की डाली की तरह होती है—इसका उदाहरण 'लाउडोगा' साँप है। बहुत सी मछलियाँ तालाब या नदी की जिस दरार अथवा कोटर में छिपी रहती हैं उसी के सदृश उनकी आकृति होती

---

the good cross-fertilisation did them, began in time to bribe the insects by producing honey in the neighbourhood of their pistils and stamens, and also to attract their eyes from afar by means of those alluring and brilliantly coloured advertisements which we call petals.' * * * And he waxes eloquent when speaking of the extreme ingenuity with which, to use his own words, "members of this family often arrange their matrimonial alliances" and advises his readers to read Darwin's romantic book on this subject so as to be able fully to appreciate the various "clever dodges" which the orchids employ in order to ensure cross-fertilisation—Philosophy of the Gods, pp. 69-70.

है।* किंतु प्राणितत्त्ववेत्ता जिसे Avine Mimicry कहते हैं, अर्थात दुर्बल पक्षी की की हुई प्रबल पक्षी के रूप की जैसी आकृति, वह इस (Mimicry) विषय का बड़ा विचित्र नमूना है। अध्यापक वालेस (Wallace) ने अपने 'डारविनिज्म' (Darwinism) ग्रंथ में और चार्ल्स डिक्सन् (Charles Dixon) ने अपने 'चिड़ियों के वर्णन' (Story of the Birds) में इस रूपानुकरण के कई विचित्र उदाहरण दिए हैं† ।

उनका यह भी कहना है कि इस अनुकरण-कार्य को अनुकरण-कर्ता जान-बूझकर अथवा चेष्टा से नहीं करता

---

* Insects are made to look like the plant on which they feed, so that the birds who hunt for them may overlook them. The plumage of birds often resembles the foliage which shelters them, Some snakes resemble the branch or herb on which they roost. Some fishes resemble the bank under which they hide.

* * * *

In these situations they often so closely resemble a stone, a clod of earth, an excrescence on the bank, a heap of leaves, or the stalk and leaves of surrounding plants, that discovery is next to impossible.

† But of all forms of protective modifications that of avine mimicry is the most curious and remarkable. Mimicry is defined by ornithologists as the imitation by a weak and defenceless bird of the colour of a stronger and more favoured one ; and they have noticed that the cuckoos present some of the most interesting instances of avine mimicry. Certain species of these birds very closely resemble hawks, while others bear a remarkable likeness to certain game birds.

—Philosophy of the Gods, p. 73.

है*। यदि यह बात है तो इसके लिये जिम्मेदार कौन है ? जिम्मेदार है निसर्ग की ईच्छा या संकल्प।

आनंद की बात है कि पाश्चात्य विद्वानों में से कोई कोई इस बात को कहने लगा है। इनमें से अध्यापक बार्गसन का नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। वे दार्शनिक भी हैं और वैज्ञानिक भी। वे कहते हैं कि प्राणी की प्राणशक्ति (Life or Elan Vital) ही विचित्र शरीर बना देती है। सारे प्राणिजगत् में किसी एक संकल्प का कार्य (Something of the psychological order) अनुस्यूत हो रहा है। क्या निम्न प्राणी और क्या उच्च प्राणी, सभी में यह प्राणशक्ति काम कर रही है और इसी की प्रेरणा से प्राणि-जगत् में नई नई उपजातियाँ उत्पन्न होती हैं।

उदाहरण के लिये अध्यापक बार्गसन चक्षुरिन्द्रिय की अभिव्यक्ति का उल्लेख करते हैं। सभी को मालूम है कि हमारी आँख बहुत ही विचित्र यंत्र है। इसका अवयव-संस्थान, सुकुमारता, वैचित्र्य और सुसंगति बड़ी अद्भुत है। पारिपार्श्विक अवस्था के परिवर्तन से उत्पन्न प्राणिशरीर के परिवर्तन ने वंशानुक्रम से एकत्र होकर इस विचित्र यंत्र को बना दिया है, इस पर विश्वास कर लेना सहज नहीं है।

---

* This resemblance between distantly related species is apparently unconscious on the part of the species practising it.—Story of the Birds, p. 199.

बार्गसन कहते हैं कि रीढ़वाले जंतुओं में (जिन्हें Vertebrate Animal कहते हैं) जैसी आँख होती है वैसी आँख रीढ़वाले प्राणियों से सर्वथा विभिन्न प्रकृति के किसी किसी Mollusc जातीय प्राणी में भी देखी गई है। यह विश्वास नहीं होता कि इन विभिन्न दोनों श्रेणियों के प्राणियों में एक ही ढंग की पारिपार्श्विक दशा से परिवर्तन हो गया और उसके फल-स्वरूप उनके शरीर-यंत्र का ठीक एकसा क्रम-विकाश होकर एक सी आँख बन गई। इसी से बार्गसन साहब का कहना है कि मनुष्य ने जिस प्रकार अनुवीक्षण यंत्र बनाया है उसी तरह प्राणशक्ति ने चक्षुरिंद्रिय की रचना कर ली है*। बहुत समय पहले उपनिषद् के ऋषि ने कहा

---

* He (Bergson) points to the eye in vertebrate animals, with its marvellously delicate, complex, and exactly suitable parts. It is sufficiently difficult, he declares, as Darwin himself declared, to believe that this amazing organ has been mechanically evolved by the accumulation of accidental variations which natural selection could choose from. But an eye of closely similar structure is found in some molluscs, animals of a radically different branch of the tree of life. The theory of natural selection, asking us to believe that the same long series of happy accidents has occurred independently along those two lines, strains belief to breaking-point. It begins to be evident that there is someting called Life, which responds to the touch of light, and evolves the seeing eye: something, as Bergson says, "of the psychological order," immanent in all living things, low as well as high, which feels and strives

था—'दर्शनाय चक्षु:,' जीव ने दर्शन करने का संकल्प किया, इसका फल यह हुआ कि आँख उत्पन्न हो गई।

यदि यह सच है, यदि प्राणशक्ति की प्रेरणा बिना देह में परिवर्तन नहीं होता, यही सिद्धांत है—यदि इस क्रिया के भीतर संकल्प या ईक्षण (Something of the psychological order) निहित है तो फिर विवर्तन देहगत किस प्रकार हो सकता है ? तब तो हमें अपने उसी प्राचीन मत पर लौट आना पड़ा कि बिना देही के देह नहीं हो सकती; पहले जीव है, फिर शरीर है; पहले कार्य है, उसके पीछे इंद्रिय है* । असल बात यह है कि विवर्तन देह-गत नहीं, जीव-गत है। कारण के बिना कार्य नहीं होता; यह जो आकृति का अपनी मर्जी से स्वयंसिद्ध (spontaneous) परिवर्तन हो गया और उन परिवर्तनों में जो पारिपार्श्विक दशा के अनुकूल हुआ

---

and achieves, and which made the eye, as man made the microscope.

—Harmsworth's Popular Science, p. 1285.

* It takes a soul to move a body.—Mrs. Browning.
Spirit moves body.—Edmund Spencer.

Believing that the need or the want comes first, and then the structure which will satisfy it, Lamarck argued that many of the wonderful structures of living things are produced in response to what we may call the sub-conscious will of the creatures.

In more technical language, he believed that function precedes and creates structure. He accounted for many structures by the want of them felt by animals, until the want was satisfied.

वही वंशपरंपरा-क्रम से प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा स्थायी रहा*; यह स्वयंसिद्ध परिवर्तन किसने कर दिया? बार्गसन की राय में यह काम प्राणशक्ति की प्रेरणा से हुआ [Elan vital —जिसे वे जीवन का धक्का या चाल (The 'thrust,' the 'go' of life) कहते हैं]। इस देश की भाषा में उसे जीव का परिस्पंद कह सकते हैं। इसलिये विवर्तन का नाम हमारी भाषा में क्रमाभिव्यक्ति है। जीव में जो अव्यक्त था वह विवर्तन के फल से सिर्फ अभिव्यक्त हो गया। उससे कोई नई चीज नहीं निकली—जो पहले से ही उसके भीतर था वही प्रकाशित हो गया।

इससे यह सिद्ध हुआ कि विवर्तन बाहरी कार्य नहीं है, वह तो भीतर की वस्तु का विकाश है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अब इस बात को कहने भी लगे हैं†। खासकर एक

---

* "Absolutely random variations, conveniently called 'spontaneous' and without any tendency, bias or predilection in any direction whatever have furnished the materials which natural selection has fixed in the form, say of the eye, the internal ear, etc. * * The truth is that we are only just beginning to understand that the action of natural selection is not positive but negative, and that it does not account at all for the positive fact of the origin of new forms.—Harmsworth.

So Bergson's idea of the desire, the thrust of life in general, expresses for him the fundamental cause of the variations which give rise to new species.

† Evolution is a growth from within—an unfolding ofpotentialities which are inexhaustible and to which we ourselves but illustrations thereof, can put no limit.—Harmsworth, p. 1161.

वैज्ञानिक मेंडेल साहब ने प्रतिपादन किया है कि सभी के भीतर कला अथवा अवयव के रूप में सब कुछ पहले से ही वर्तमान है। इसके फल-स्वरूप विवर्तन-वाद में नया तथ्य संयुक्त हो गया है। वे बहुत सी बातें हैं, उन पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

सप्तम अध्याय

मेंडेलिज्म और क्रमाभिव्यक्ति

सन् १८५९ ईसवी में डार्विन ने अपना युगांतरकारी ग्रंथ Origin of Species प्रकाशित किया। इससे बहुत जल्द विद्वानों की मंडली में बड़ी चंचलता और हलचल मच गई। उस आंदोलन की एक तरंग सुदूर आस्ट्रिया देश के ब्रून (Brunn) नामक एक निराले गाँव के पादरी (Vicar) ग्रेगर मेंडल (Gregor Mendel) के हृदयतट पर जाकर टकराई। इस आंदोलन के बहुत पहले से मेंडेल अपने घर से लगी बाटिका में पेड़-पौदों की परीक्षा कर रहे थे। इस काम की उन्हें सनक सी थी। उन्होंने देखा कि डार्विन के कुछ सिद्धांतों का मेल उन सिद्धांतों से नहीं बैठता है जिन्हें उन्होंने अपने बाग में परीक्षा करके निर्धारित किया था। अब वे अनेक प्रकार के मटर (Pea) के पौदों की जाँच बारीकी से करने लगे*। जिन मटरों का डंठल (Stem) ६-७ फीट

---

* हजारों पेड़-पौदों के रहते हुए मेंडेल ने जाँच के लिये मटर को ही क्यों पसंद किया, इस संबंध में एक अभिज्ञ लेखक ने लिखा है—

Mendel chose the pea because its varieties are sharply marked in various definite respects and because it was possible to protect the hybrids, during the flowering period, from the influence of all foreign pollen.

ऊँचा होता है ऐसे सफेद मटर के पौदों के पराग के साथ छोटी जाति के मटर के पौदों का (जिनका डंठल १ फुट से अधिक लंबा नहीं होता) यौन-सम्मिलन करवाने से जो बीज मिला उस बीज से उन्होंने मटर के नए पौदे उगाए। मटर की दोनों किस्मों—ऊँचो और छोटी—के मेल से जो मटर का पौदा उपजा उसकी उँचाई मँझोली, यानी तीन-चार फुट, होनी चाहिए थी; अर्थात् न तो वह छः फुट ऊँचा होता और न एक फुट छोटा। गोरे और काली के मेल से जिस प्रकार 'मटमैले फिरंगी' की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार दोनों से मिलकर बने हुए रंग की संतान (Blended Inheritance) होनी चाहिए थी; किंतु ऐसा नहीं हुआ। सभी पौदे लंबे हुए, छोटा एक भी न हुआ*। इन खच्चर (Hybrid) मटर के पौदों के बीच मेंडेल ने और

* Now, in all Mendel's experiments, one of the pair of contrasted characters, represented in the individuals he was crossing, (such as tallness or dwarfness) appeared in all the offspring, while the opposite disappeared.—Harmsworth, p. 2122.

इस संबंध में मेंडेल ने स्वयं लिखा है—

This last was particularly striking, for it was possible to cross plants with a stem of six to seven feet with dwarf plants averaging only one foot high. In all, he studied seven distinct characters and the first result he obtained, in each case, was one which hybridisation experiments had frequently shown before. This result was the absence of what is sometimes called "blended inheritance". It seems reasonable to suppose, for instance, that the hybrid offspring of two plants, one six feet and the other one foot high, would "strike an

भी यौन-सम्मिलन कराया। दूसरी नस्ल में देखा गया कि यद्यपि उनके माँ-बाप दोनों ही ऊँचे खच्चर थे किंतु संतान का बारह आना हिस्सा तो ऊँचा हुआ और चार आना छोटा हुआ। मेंडेल ने दूसरी उपज के उस बारह आने ऊँचे खच्चर के साथ फिर भी यौन-मिलन कराया। उसकी संतान सब की सब ऊँची होनी चाहिए थी; क्योंकि यदि डार्विन का सिद्धांत ठीक हो तो, इन तीनों पुश्तों के पौदों में उपचित होकर उँचाई का गुण इतने दिनों में दृढ़बद्ध हो जाना चाहिए था। किंतु फल इसके विपरीत हुआ। तीसरी पुश्त में जो मटर के पौदे उगे उनका २/३ अंश तो ऊँचा हुआ और १/३ अंश बौना। इन परीक्षाओं के फल को मेंडेल साहब ने नीचे दी हुई वंशलता में दिखलाया है—

---
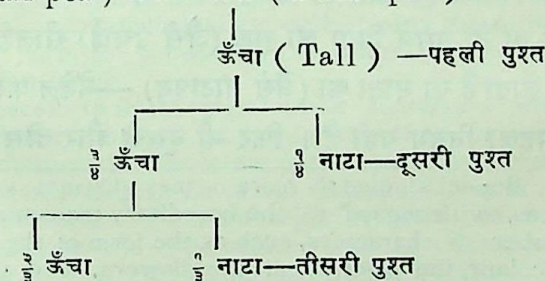
average" between the parents. But this never happened; the offspring of these crosses were always as tall as the tall parent. We shall see in due course what happened to their offspring.

* * * *

केवल तने की लंबाई में ही यह बात नहीं पाई गई; बल्कि मटर के पौदे के अन्यान्य धर्म (Characters)--जैसे बीज की सूरत और रंगत तथा फूल के संस्थान आदि—के संबंध में भी पहली, दूसरी और तीसरी पुश्त में यह एक ही नियम पाया गया* । इस प्रकार ३—४ तरह के मटर के पौदों की परीक्षा तरह-तरह से ८ वर्ष तक करने पर सन् १८६५ ईसवी में मेंडेल ने ब्रून की दर्शन-समिति (Brunn Philosophical society) में एक निबंध पढ़ा । प्रबंध का नाम था--Experiments in plant hybridisation अर्थात् विभिन्न पौदों के परस्पर सम्मिश्रण के प्रयोग† । इस निबंध में उन्होंने अपनी की हुई परीक्षाओं का उल्लेख करके कुछ नियम निर्दिष्ट करने की चेष्टा की । विरुद्ध लक्षणोंवाले पिता-माता के संयोग से दोनों से मिलकर बने हुए रंग की संतान (Blended Inheritance) उत्पन्न नहीं होती, बल्कि या तो उसमें पिता का गुण (जैसे उँचाई) सोलहों आने प्रकट होता है या माता का (जैसे नाटापन);—मेंडेल का निर्धारित पहला नियम यही है । फिर भी दूसरी और तीसरी पुश्त

---

* Mendel studied 34 more or less distinct varieties of peas, with regard to the hereditary transmission of a number of characters, such as the form of the seeds, their colour, the position of the flowers, and also the length of the stem

† इस निबन्ध के प्राक्कथन में वे इस तरह लिखते हैं—

The paper now presented records the results of such a detailed experiment This experiment was confined to a small plant group, and is now, after eight years' pursuit concluded in all essentials.

में देखा जाता है कि उक्त प्रकट गुण (जैसे तने की ऊँचाई) अप्रकट हो जाता है और पहली पुश्त में जो गुण अव्यक्त हो गया था वही (जैसे तने का नाटापन) उत्तर पुरुष की संतान में किसी किसी व्यक्ति में सुव्यक्त हो जाता है। इससे मेंडेल ने यह प्रतिपादन किया कि संतान-बीज में कुछ निर्दिष्ट अवयव अथवा कलाएँ (Factors) छिपी रहती हैं; उनमें से कोई तो एक पुश्त की संतान में और कोई किसी दूसरी पुश्त की संतान में प्रकट हो जाती हैं*। इन प्रकटित कलाओं या अवयवों को वे प्रबल (Dominant) और अप्रकट कलाओं को वे निर्बल (Recessive) कहते हैं†। यहाँ पर प्रबल से मतलब व्यक्त (Patent) और निर्बल से मतलब (Latent) अव्यक्त का है।

---

* इस संबंध में स्वयं मेंडेल का कथन है—The conclusion appears logical that in the ovaries of the hybrids, there are formed as many sorts of egg-cells, and in the anthers as many sorts of pollen-cells, as there are possible combination forms.

† Henceforth in this paper those characters which are transmitted entire..........and therefore in themselves constitute the characters of the hybrid, are termed the dominant, and those which become latent in the process, recessive. The expression 'recessive' has been chosen because the characters thereby designated withdraw or entirely disappear in the hybrids, but nevertheless reappear unchanged in their progeny, as will be demonstrated later on. It was furthermore demonstrated by the whole of the experiments that it is perfectly immaterial whether the dominant character belongs to the seed-bearer or to the pollen-parent ; the form of the hybrid remains identical in both cases.

मेंडेल ने इस निबंध में ऐसी ही बहुत सी तथ्य-पूर्ण बातों का पता दिया है; किंतु उस समय किसी ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। उनका वह निबंध अवज्ञात होकर कई वर्ष तक रद्दी कागजों में पड़ा रहा। सन् १९०० ईसवी में अध्यापक डी व्राईस और अन्य दो वैज्ञानिकों—कोरेंस (Correns) तथा शेमार्क (Tschermak)—ने, बिलकुल पृथक् पृथक्, मेंडेल के निबंध का पता लगाया और उसके संबंध में आलोचना तथा गवेषणा आरंभ कर दी। तब से इस विषय की ओर प्राणि-तत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों की दृष्टि आकृष्ट हुई और उनकी की हुई परीक्षा तथा समीक्षा के द्वारा मेंडेल का सिद्धांत और भी दृढ़ हो गया। न सिर्फ उद्भिदों के ही संबंध में बल्कि जीव-जंतुओं के भी संबंध में मेंडेल का आविष्कृत नियम प्रयोज्य जँचता है। नीचे दिए हुए चित्र से यह विषय साफ हो जायगा।
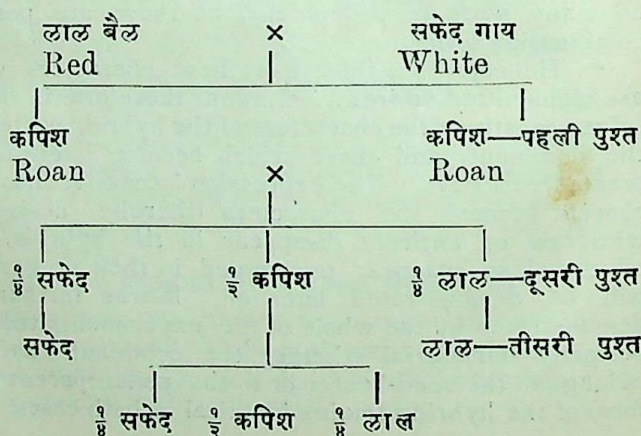
अब पश्चिमी देशों में 'मेंडेलिज्म' नामक एक मत-वाद प्रचलित हो गया है और इँगलैंड के सर्वश्रेष्ठ प्राणितत्त्ववेत्ता अध्यापक बेटमैन (Bateman) इसके प्रधान पृष्ठपोषक हुए हैं। यह मतवाद धीरे धीरे डार्विनिज्म (Darwinism) के प्रभाव और प्रतिपत्ति को घटा रहा है और बहुत संभव है कि कुछ वर्षों के पश्चात् डार्विनिज्म को स्थानच्युत करके उसके सम्मानित आसन पर यह स्वयं प्रतिष्ठित हो जाय।

मेंडेलीय मत-वाद की असल बात क्या है ? असल बात यह है कि (१) जिस बीज से संतान उत्पन्न होती है उसी संतान-बीज में पहले से कुछ निर्दिष्ट कला अथवा अवयव (Factors) छिपे रहते हैं। (२) इन कलाओं के संस्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं है (by the law of Chance)। (३) विरुद्ध लक्षणवाली दो कलाएँ मिश्रित रङ्ग की नहीं होतीं, किंतु स्वतंत्र रहती हैं और इस प्रकार दो विरुद्ध कलाओं के सम्मिलित होने से एक तो प्रबल होती है और दूसरी निर्बल। (४) एक पुश्त में जो कला निर्बल रूप से अव्यक्त रहती है वह किसी और पुश्त में प्रबल होकर सुव्यक्त हो जाती है*। एक

* The essential ideas of Mendel are first, the characteristics of the individual are due to some kind of entities, 'factors' or 'determinants', existing in the germ-cells from which the individual is developed; second, that these factors are distributed in the germ-cells according to the laws of *chance*; third, that opposite factors, meeting in a germ-cell, would not blend, but

उदाहरण द्वारा यह विषय स्पष्ट हो सकता है*। आजकल कोई दो हज़ार किस्म के सेब पाए जाते हैं। रङ्ग, सूरत, स्वाद, सुगंध और छोटाई-बड़ाई प्रभृति में इन सेब-फलों में यथेष्ट अंतर देखा जाता है। किंतु उद्भिद्-विज्ञानवेत्ताओं ने यह प्रतिपादन किया है कि इन दो हजार किस्म के सेवों का बीज-पुरुष या आदि-पुरुष जंगली सेब (जिसे crab-apple

---

segregate ; and fourth, that when opposite factors meet, one tends to be dominant and the other recessive.

* Take, as an example, apples. There are now some 2000 kinds of apples, but they have all come from the wild variety, the crab-apple. They differ in size, in colour, in texture of skin, in sweetness as regards the fruit, and in many other ways as to the tree. Now, according to Darwin, the original crab-apple tree began to vary, and one variation after another cumulating, there came as a summing up of all these variations the second species of apple ; this species, too, then varied, and an accumulation of little variations brought additional species ; and so on during the centuries the existing species have arisen. But according to the Mendelian theory of factors, all the existing (and future possible) varieties of apple-trees are due to a certain number of factors as to size, colouring, sweetness and so on, which exist from the beginning in the germ-cells of the crab-apple. In the course of centuries these factors combine, and it is their permutations and combinations that have given rise to the two thousand odd varieties that we have to-day. Nature—or the cultivators—have only combined pre-existing factors ; they have added nothing to the original wild crab-apple, which from the beginning was like an invisible horti-cultural exhibit of all apples that were ever to be.—Theosophy and Modern Thought, p. 37.

कहते हैं) था। डार्विन के सिद्धांत के अनुसार उस आदि-पुरुष 'क्रेब अपेल' ने स्मरणातीत समय में विलंबित क्रम से धीरे धीरे परिवर्तित होना आरंभ किया और थोड़े थोड़े से इन सूक्ष्म परिवर्तनों को एकत्र करके इन दो हजार किस्म की सेब की उपजातियों को उत्पन्न कर दिया है। मेंडेल का दल इसको नहीं मानता। उसका कहना है कि उस बीज-पुरुष 'क्रेब अपेल'के भीतर इन दो हजार किस्म के सेबों का पूर्व रूप, कला या अवयव के रूप में, पहले से ही संवृत था। समय पाकर एक पुश्त से दूसरी पुश्त में इन विभिन्न कलाओं ने, कभी सुव्यक्त और कभी अव्यक्त होकर, दो हजार किस्म के सेबों की उपजातियाँ पैदा कर दी हैं।

अतएव यह स्पष्ट हो गया कि "नासतो विद्यते भावः"— जो वस्तु है ही नहीं वह नहीं आ सकती; हाँ, जो अव्यक्त थी वही सुव्यक्त हो जाती है। इसी लिये अध्यापक बटमैन ने कहा है कि विकाश या विवर्त्तन की सारी संभावना अनादि काल से विद्यमान रहती है। ये अव्यक्त संभावनाएँ विवर्तन के फलस्वरूप अभिव्यक्त मात्र होती हैं*।

परवर्ती समय में जिसे हम महाकवि शेक्सपियर के रूप में पाते हैं वह आलपीन से भी सूक्ष्म एक जीव-पंक प्रोटोप्लाज्म(proto-

---

* Factors for all possibilities in Evolution fore-exist. "Shakespeare once existed as a speck of protoplasm not so big as a small pin's head."—Bateman.

plasm) के भीतर पहले से ही छिपा हुआ था। बटमैन साहब और भी कहते हैं "मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रतिभावान् पुरुष की कलाशक्ति (artistic gifts) में बाहर की कोई वस्तु सम्मिलित नहीं है। साधारण मनुष्य में जो कलाशक्ति छिपी हुई है उसकी रुकावट हट जाने से प्रतिभाशाली पुरुष में उस कलाशक्ति का सिर्फ स्फुरण हो गया है। इस प्रकार जहाँ कहीं हम किसी उच्च वृत्ति का विकाश देखें वहीं समझना चाहिए कि वह वास्तव में बंधन से निकल आई है (Release of Powers); उसने बाहर से आकर पूर्ति नहीं कर दी है। जिस प्रकार बाजा पहले से ही मौजूद था, उसमें सिर्फ सुर का संयोग हो गया है*"। श्रीयुक्त जिनराजदास इसी बात को फैलाकर कहते हैं—प्रत्येक मनुष्य शेक्सपियर और तानसेन है—विवर्तन के फल से मनुष्य में जो कुछ विकाश हो सकता है वह सब उसमें है। किंतु प्रत्येक व्यक्ति में वह प्रतिभा अब तक प्रकट नहीं हुई है—इसी से उसकी शक्ति अब तक निरुद्ध है। प्रतिभाशाली होने के लिये एक शक्ति के बाद

---

* I have confidence that the artistic gifts of mankind will prove to be due not to something added to the make-up of an ordinary man, but to the absence of factors which in the normal person inhibit the development of these gifts. They are almost beyond doubt to be locked upon as releases of powers normally suppressed. The instrument is there but it is "stopped down."—Prof. Bateman's Presidential Address at the British Association in 1914.

और भी शक्ति का संग्रह नहीं करना पड़ता। शक्ति तो निरुद्ध दशा में उसके भीतर विद्यमान है ही—आवश्यकता है उस निरोध को हटा देने की*।

इस प्रकार देखने पर विवर्तन (Evolution) का अर्थ क्रमाभिव्यक्ति (Growth from within) होता है। वास्तव में Evolution शब्द का मौलिक अर्थ भी वही—E = out and Volvo = to roll—है। जो संकुचित था उसको फैला देना, जो अव्यक्त था उसे व्यक्त कर देना और जो अप्रकाशित था उसे प्रकाशित कर देना ही क्रमाभिव्यक्ति है। आनंद की बात है कि पाश्चात्य वैज्ञानिकों में जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे अब इसी रूप में विवर्तन का अर्थ समझने लगे हैं। वे कहते हैं—'सारी शक्ति, सारी संभावना हमारे भीतर छिपी हुई है। मौक़ा मिलने पर, सुभीता होते ही, उसकी व्यंजना होने लगती है।' अतएव मनुष्य की उन्नति और अभ्युदय की धारा अपार है—उसके ओर-छोर का पता लगाने की सामर्थ्य हम में नहीं है†। जिसे Environment कहा जाता है उस अंतर्निहित शक्ति का

---

* Each man is a Shakespeare, a musical genius, everything that evolution will ever make out of men; but every man is not a genius in actuality because of the existence still in him of inhibiting factors. We do not need to become geniuses by adding faculty to faculty; the faculties are there but *unreleased*, because of the inhibiting factors.

† All powers and capacities must lie latent within, pre-existing, awaiting the right conditions for their expression.

पारिपार्श्विक अवस्था द्वारा विकाश मात्र होता है; अर्थात् उक्त अवस्था शक्ति की जननी नहीं, दाई है*। पारिपार्श्विक अवस्था गधे को ठोक-पीटकर घोड़ा नहीं बना सकती। हाँ, खिला-पिलाकर, खुरैरा करके, घोड़े को बलवान और सुंदर बना सकती है†।

पाठक देख लें कि पाश्चात्य विज्ञान किस प्रकार धीरे धीरे प्राच्य प्रज्ञान के समीप आता जाता है। हमने देख लिया है कि प्राच्य प्रज्ञान के मत से जीव ब्रह्म का अंश है, चित्-अणु और ब्रह्मसिंधु का बिंदु है। वही ब्रह्म समस्त शक्ति का प्रस्रवण है।

अनन्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरेश्वरम्।

ब्रह्म में जो अनेक प्रकार की विचित्र शक्ति सुव्यक्त है वह ब्रह्म के अंश जीव में अव्यक्त अथवा अर्द्ध-व्यक्त होने पर भी अनादि काल से विद्यमान है।

सत्यं ज्ञानमनन्तञ्चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्। —पंचदशी।

Evolution is a growth from within—an unfolding of potentialities, which are inexhaustible and to which we can put no limit.

* Environment is the *means* of releasing innate faculties.

† इस मत का पोषण करते हुए अध्यापक टामसन कहते हैं—

Our inheritance is like a number of buds to which we cannot add; but the environment is like the wind and the rain which determine that this bud shall open generously whereas this other shall haply remain asleep.

पतंजलि ने पुरुष-विशेष ईश्वर के संबंध में जो कहा है--'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' उसका प्रयोग जीव के संबंध में भी हो सकता है। न केवल प्रज्ञत्व-बीज ही, बल्कि ईशित्व, वशित्व प्रभृति सब शक्तियों का बीज जीव में वर्तमान है। ईश्वर में जिसका पूरा पूरा विकाश है वही जीव में बीजरूप से है। इसी लिये ईश्वर जीव से अधिक है।

अधिकन्तु भेदनिर्देशात्।—ब्रह्मसूत्र, २।१।२२

जीव की सुप्त शक्तियों को प्रबुद्ध करने के लिये, सारी अव्यक्त सम्भावना के विकाश के लिये, प्रकृति के क्षेत्र में जाव बोया जाता है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्बीजं दधाम्यहम्।

—गीता, १४।३

महद् ब्रह्म = प्रकृति। इस प्रकार प्रकृति-क्षेत्र में जो बीज बोए जाते हैं वे सब बीज जीवरूप चिद्-अणु हैं। प्राकृतिक उपादान से बनी हुई उपाधि ग्रहण करने पर इन जीव-बीजों का धीरे-धीरे विकाश होता है। माता की कोख में कलल या संतान-बीज जिस प्रकार बढ़ता है उसी प्रकार उन जीवों के भीतर छिपी हुई शक्तियाँ धीरे धीरे विकसित होती हैं*। हम बतला

---

* इस तत्त्व का उपदेश करके बाइबिल में कहा गया है—He is sown in weakness so that he may be raised in power. इस प्रकार Raised-in-power जीव ही जीवन्मुक्त है—उसे ईश्वर का सायुज्य प्राप्त है। इसी लिये जीव को कहा जाता है—God in

चुके हैं कि जीव किस प्रकार, क्रम-विकाश के फल से स्थावर राज्य को लाँघकर जंगम राज्य में पहुँचता है; और जंगम राज्य में पहुँचकर पहले सरीसृप, फिर जलज, स्थलज लाखों पक्षियों और पशुओं की देह में ठहरता ठहरता अंत में नर-देह पाता है और मनुष्यों में भी पहले असभ्य, फिर अर्द्धसभ्य तब सभ्य तथा अंत में सुसभ्य मनुष्य के रूप में जन्म लेकर अतिमानवता के ऊँचे स्तर में पहुँचता और फिर जीवन्मुक्त की उच्च पदवी पर प्रतिष्ठित होता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जन्मांतर ही क्रमोन्नति का यह मार्ग है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि उपाधि के तारतम्य से ही जीव-गत शक्ति के प्रकाश का तारतम्य होता है। स्थावर में जो चिद्-अणु निरुद्ध-चेतन होकर आच्छन्न दशा में था, उद्भिज् में जिस चिद्-अणु ने ज्ञान-शक्ति का स्तंभन होने से प्राण के स्पंदन मात्र का अनुभव किया था तथा पशु और पक्षी में जो चिद्-अणु सुख-दुःख का अनुभव पाकर भी प्रज्ञा और प्रेम के उच्चतर स्पंदन तक नहीं पहुँच सका वही चिद्-अणु मनुष्य का चोला धारण करके धीरे धीरे विवर्तन-धारा में बहकर सत्-चित्-आनंद का पूरा अधिकारी होता है। यह अधिकार पाने के लिये निसर्ग-निर्दिष्ट प्रणाली और पंथ—जन्मांतर है।

---

creation.' 'God in the making.' इस Made God को लक्ष्य करके ईशु खीष्ट ने कहा—Be ye perfect as your Father in Heaven is perfect.

ऐतरेय आरण्यक में और उसके सायन-कृत भाष्य में इस विषय की बढ़िया आलोचना है। हम यहाँ पर भाष्य सहित आरण्यक के उस अंश को उद्धृत करते हैं—

तस्य य आत्मानं आविस्तराम् वेद, अश्नुते हाविर्भूयः।—ऐतरेय आरण्यक, २। ३। १

तस्य उक्थरूपस्य पुरुषस्य शरीरे वर्त्तमानं चिद्रूपं आत्मानं आविस्तराम् अतिशयेन प्रकटम् इति यः पुमान् उपास्ते स पुमान् भूय आविः अतिशयेन प्रकटत्वम् अश्नुते व्याप्नोत्येव—सायन भाष्य।

ओषधिवनस्पतयो यच्च किञ्चित् प्राणभृत् स आत्मानमाविस्तराम् वेद। ओषधिवनस्पतिषु हि रसो दृश्यते, चित्तं प्राणभृत्सु। प्राणभृत्सु त्वेव आविस्तराम् आत्मा; तेषु हि रसोऽपि दृश्यते। न चित्तं इतरेषु। पुरुषे त्वेव आविस्तराम् आत्मा। स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सत्येवं सम्पन्नः। अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिविज्ञानम्; न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकौ। त एतावन्तो भवन्ति यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः।—ऐतरेय आरण्यक, २। ३। २

इसका सायन-कृत भाष्य यह है—

चैतन्यस्य उपाधिविशेषेषु तारतम्येन आविर्भावं दर्शयितुं आदौ एकं उपाधिं उदाहरति। ओषधिवनस्पतयः यच्च किञ्चित् प्राणभृत् इति।

सच्चिदानंदरूपस्य जगत्कारणस्य परमात्मनः कार्य्यभूताः सर्वेऽपि पदार्थाः आविर्भावोपाधयस्तत्राचेतनेषु मृत्पाषाणादिषु सत्तामात्रमावि-

भवति, न चात्मनो जीवरूपत्वम् । ये तु 'ओषधिवनस्पतयः' जीवरूपाः स्थावराः ये च श्वासरूपप्राणधारिणो जीवरूपा जङ्गमाः ते उभये अतिशये-नाविर्भावस्थानमिति यो निश्चिनोतीत्यध्याहारः । 'सः' पुमान्, आत्मानं अतिशयेन आविर्भूतमुपास्ते।

मनुष्या गवाश्वादयश्च प्राणभृतः, तेषां मध्ये 'पुरुषे' मनुष्ये 'एव' अतिशयेनात्माविर्भावो न तु गवाश्वादिषु । यस्मात् 'सः' मनुष्यः अत्यन्तं प्रकृष्टज्ञानेन सम्पन्नः ।

यहाँ पर हमारे ध्यान देने का विषय यह है कि उपाधि की विशेषता में ही जीव-गत शक्ति के आविर्भाव या प्रकाश का तारतम्य देखा जाता है; अर्थात् जीव की शक्ति आगंतुक नहीं, बल्कि जीव के भीतर ही स्थित है। मेंडेल साहब ने विज्ञान की भाषा में यही बात कही है। परंतु वे भी डार्विन की तरह विवर्तन को देह-गत करना चाहते हैं। उनकी राय में सारी शक्ति, सामर्थ्य और संभावना का केंद्र संतान-बीज (Germ-plasm) है। और हम यह कहते हैं कि अखिल शक्ति, सामर्थ्य और संभावना का झरना कोषाणु नहीं, चिद्-अणु हैं। क्योंकि विवर्तन देह-गत नहीं, जीव-गत है।

प्रसन्नता की बात है कि इस अभिप्राय को पश्चिमी देशों में कोई कोई कहने और समझने लगा है। स्टीवेंसन हावेल (Stevenson Howell) नामक एक वैज्ञानिक व्यक्ति ने विगत जनवरी मास के 'थियासोफिकल रिव्यू' पत्र में विज्ञान की ओर से इस जन्मांतर की आलोचना की है। वे कहते

हैं कि गंभीरतापूर्वक छान-बीन करने से हमें यह सिद्धांत मानना होगा कि जैसे देह के विवर्तन का एक लंबा इतिहास है वैसे ही संवित् (Consciousness) के विवर्तन के पीछे भी एक युगव्यापी क्रम-विकाश है* ।

हावेल साहब का अंतिम सिद्धांत यह है कि 'जीव इस जगत् में बारंबार जन्म ग्रहण करता है और उसे प्रत्येक जन्म में जो अभिज्ञता होती जाती है उसे प्रज्ञा और सामर्थ्य का रूप मिलता जाता है। अतएव प्रत्येक जन्म ही उसके मानसिक और आध्यात्मिक विकाश की एक एक सीढ़ी है। वह एक एक पग बढ़ाकर अंत में अपने गम्य स्थान पर पहुँचता है। यह गम्य स्थान है पूर्णता की प्राप्ति† ।'

---

* We may even be forced to the conclusion that a long past lies behind man's consciousness, just as a long past lies behind the evolution of his body.—Theosophical Review for January, 1925, p. 31.

† The individual is born many many times on earth, gradually transmuting the experiences gained in each life into wisdom and faculty, so that each incarnation represents for him a growth in mental and moral capacity and takes him one step nearer his goal—the perfecting of his being.—Ibid, p. 32.

यही बात श्री जिनराजदास ने लिखी है—

Man's purpose in life at his present stage is neither to be happy or miserable but to achieve his archetype.

यह archetype अपने विधाता की बनाई विशेषता है। जिस प्रकार सूर्य्य की साफ किरण काँच की झिलमिली में होकर जब

पूर्ण से निकलकर जीव फिर पूर्ण में लौट आता है। यही जन्मांतर की सार्थकता है।

पूर्णमदः पूर्णामिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

फैलती है तब 'सप्त सप्ति' (Seven prismatic colours) में प्रकाशित होती है उसी प्रकार ब्रह्मज्योति, मायाउपाधि के बीच से फैलने पर सप्तश्रेणी के जीव में प्रकाशित होती है। इन्हें Rays या Archetypes कहते हैं। इस सप्तश्रेणी का नाम क्रम से Philosophical, Scientific, Artistic, Devotional, Mystic, Ceremonial and Heroic है। इस सप्तश्रेणी या Type को विधाता का 'प्रकल्प' कहा जा सकता है। प्रत्येक जीव के लिये अपनी 'प्रकल्प' सिद्धि ही (Achieving the Archetype) परम पुरुषार्थ है।

अष्टम अध्याय

जन्मांतर की संकर युक्ति

जन्मांतर की साधक युक्तियाँ ढूँढ़ते समय हमें विज्ञान के जंगल में घुसना पड़ा था। इस जंगल में जाकर हम विवर्तन के जाल में उलझ गए थे; और उससे छुटकारा पाने के लिये लाचार होकर हमें 'डार्विनिज्म' और 'मेंडेलिज्म' के वाद-विवाद की वितंडा में प्रवृत्त होना पड़ा। इस संबंध में हमने जितनी आलोचना की है उससे यह कदाचित् प्रतिपादित हो गया है कि विवर्तन देह-गत नहीं, जीव-गत है। और यह भी प्रतिपन्न हो गया है कि विवर्तन का असली तात्पर्य क्रम-विकाश—जीव में प्रच्छन्न अव्यक्त शक्ति की क्रमाभिव्यक्ति—है; और इस क्रमविकाश को सिद्ध करने के लिये प्राकृतिक या स्वभाव-निर्दिष्ट प्रणाली जन्मांतर है। अब इस अध्याय में हम जन्मांतर की पोषक और भी कुछ युक्तियों का उल्लेख करेंगे। ये युक्तियाँ दार्शनिक भी हैं और वैज्ञानिक भी। इसी लिये उन युक्तियों को 'संकर' कहा है।

पश्चिमी देशों में जिसे 'जीनियस' कहते हैं—और अपने यहाँ अब जिसे हम 'प्रतिभा' कहने लगे हैं—उसी बुद्धि की बात का एक बार और स्मरण कीजिए। मनीषा (बुद्धि) तरह तरह की होती है। होमर, वाल्मीकि, शेक्सपियर और

कालिदास की भाँति कवि, तानसेन, मोसार्ट और बीथोवेन की भाँति कलाविद्, माइकेल एंजेलो की तरह मूर्त्तिकार, जूलियस सीजर, शिवाजी और नेपोलियन जिस प्रकार महारथी और मनीषी हुए हैं; उसी तरह प्लेटो, शंकराचार्य और हेगल की भाँति दार्शनिक, बुद्धदेव, ईसा मसीह और चैतन्य की तरह धर्मवीर और मनीषी (Men of Genius) हो गए हैं*। तो ऐसी विचित्र मनीषा का उदय कहाँ से हुआ ?

हमें यह देखना चाहिए कि मनीषा निसर्ग का दान है, प्रयत्न का फल नहीं है—मनीषा जन्म के साथ आती है, वह

---

* इसी आशय की कुछ सुन्दर बातें अध्यापक हक्सले ने कही हैं। हम यहाँ पर उन्हें उद्धृत करते हैं—

As there are some men who cannot understand the first book of Euclid, some who cannot feel the difference between the Sonata Appassionata and Cherry Ripe or between a grave stone-cutter's cherub and the Apollo Belvedere, so there are others who devoid of sympathy are incapable of a sense of duty.

* * * *

And as there are Pascals and Mozarts, Newtons and Raffaels, in whom the innate faculty for science or art seems to need but a touch to spring into full vigour, and through whom the human race obtains new possibilities of knowledge and new conceptions of beauty; so there have been men of moral genius, to whom we owe ideas of duty and visions of moral perfection, which ordinary mankind could never have attained; though happily for them, they can feel the beauty of a vision, which lay beyond the reach of their full imaginations and count life well spent in shaping some faint image of it in the actual world—Huxley's Hume—Ch. XI, pp. 207-8.

उपाय से प्राप्त नहीं की जाती। घिस-माँज करके उसका रूप सँवारा जा सकता है, किंतु प्रयत्न करके मनीषी होना संभव नहीं। इसी लिये अँगरेज़ी में कहते हैं—Genius is born, not made. और भी ध्यान देने की बात यह है कि पात्रविशेष में अतर्कित रूप से मनीषा अकस्मात् प्रकट हो जाती है—उसका कोई पूर्वलक्षण, पूर्वसूचना या पूर्वसंभावना नहीं देख पड़ती। जूलियस सीजर, जिसके जगत् के सर्वश्रेष्ठ युद्धवीर (Greatest General) होने की घोषणा नेपोलियन जैसे रणपंडित ने की है, चालीस वर्ष की उम्र तक मसिजीवी था; उसने एक दिन भी तलवार नहीं चलाई थी। घटनाचक्र से जब रोमराज्य में गृह-विवाद उपस्थित होकर आत्मकलह उपजी तब सीजर ने लाचार होकर पहले 'गल' स्थान में अस्त्र-धारण किया और वह अकस्मात् प्रतिभा-शाली परिपक्व सेनापति के रूप में इस तरह सैन्य संचालन करने लगा कि इने-गिने वर्षों के भीतर ही रोमसाम्राज्य की बागडोर उसके हाथ में आ गई। एकाएक मनीषा की ऐसी स्फूर्ति होने का एक और दृष्टांत हमें मिलता है—वह है कवि बर्न्स (Burns) का। बर्न्स जब दरि-द्रता के कारण स्कॉटलैंड के एक साधारण गाँव में हल जोता करते थे तब इस अर्धशिक्षित कृषक युवक में मनीषा का कोई चिह्न प्रकट नहीं हुआ। अकस्मात् वसन्त का उदय होने पर जिस प्रकार जंगल में पपीहा बोलने लगता है उसी

प्रकार एक दिन बर्न्स के कण्ठ से अकस्मात् संगीत-ध्वनि फूट निकली। और मोहित-विस्मित होकर जगत् उस गीत-सुधा को पीने लगा*।

मनीषा के संबंध में हमें एक बात पर और ध्यान देना चाहिए। वह यह कि मनीषी व्यक्ति प्राय: वंध्य (Barren) होता है, उसके संतान नहीं होती। प्राणितत्त्व वेत्ता लोग इस बात को अस्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—Genius is often barren†। निसर्ग का यदि यही उ`श्य होता कि संतान में संक्रमित होकर पिता से प्राप्त गुण या विशेषता उपचित हो तो मनीषा में जब यह उपचय खूब

---

* इस सम्बन्ध में एक जानकार समालोचक (Lord Rosebery) ने कई एक अच्छी बातें कही हैं। वे ध्यान देने योग्य हैं।

Try and reconstruct Burns as he was. A peasant, born in a cottage that no sanitary inspector in these days would tolerate for a moment; struggling with desperate effort against pauperism, almost in vain; snatching at scraps of learning in the intervals of toil, as it were with his teeth; a heavy, silent lad, proud of his ploughing. All of a sudden without preface or warning, he breaks out into exquisite song, like a nightingale from the brushwood, and continues singing as sweetly—with nightingale pauses—till he dies. A nightingale sings because he cannot help it; he can only sing exquisitely, because he knows no other. So it was with Burns. What is this but inspiration? One can no more measure or reason about it than one can measure or reason about Niagara.

† As life ascends and becomes more successful, the birth rate falls.

फूला फला तब निसर्ग को उचित था कि बहुत सी संतान को जन्म देकर इस उपचित गुण का विस्तार करती। किंतु निसर्ग यह काम न करके मनीषी व्यक्ति को निस्संतान रखती है। इसका क्या उत्तर है ? और यदि कहीं मनीषी की संतान देखी भी जाती है तो उस संतान का मनीषा पर अधिकार होना तो दूर रहा, अधिकांश स्थानों में वह जड़बुद्धि (Dolt) देखी जाती है। पता नहीं कि कालिदास के बेटे-बेटी थे या नहीं; किंतु शेक्सपियर की संतान का हाल हम जानते हैं। उनमें से किसी में कवि-प्रतिभा नहीं थी—वे लोग साधारण श्रेणी के मनुष्य थे। नेपोलियन के वंशधर बौने नेपोलियन का हाल किसे मालूम नहीं ? यदि उसके कपाल में कोई कृपा करके उस वीर पिता का नाम खोद देता तभी हम लोग उसे नेपोलियन का पुत्र पहचान सकते; नहीं तो इस बुद्धिहीन कायर को कोई किस तरह पहचानता ? इस संबंध में श्री बुद्धदेव ने जो बात कही थी वह, हमारी समझ में, अंतिम बात है।

संबोधि प्राप्त करके बुद्धदेव जब भिक्षुक वेष में कपिलवस्तु में पहुँचे तब उनके पिता शुद्धोदन ने आक्षेप करके कहा—'बेटा ! विख्यात राजवंश में जन्म लेकर, राजकुमार होकर, तुम्हारा यह दीन वेष !' बुद्धदेव ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा—'पिताजी, मेरा जन्म राजकुल में नहीं हुआ है। जो बोधिसत्ववंश कल्प-क्रम से चला आ रहा है उसी वंश का मैं

वंशधर हूँ। आप वृथा विलाप न करें।' यही बात ठीक है। मनीषा का जन्म पिता के संयोग या माता की कोख से नहीं होता। मनीषी को संबोधन करके हम कबीर की बोली में कह सकते हैं—

कौन मुलुक से आयेसि हंसा! उतरेंगे कौन घाट?

मनीषी के उच्च स्तर से यदि हम एक सीढ़ी नीचे उतर आवें तो सभी देशों में थोड़े बहुत 'विलक्षण' मनुष्यों (जिन्हें अँगरेज़ो में Prodigy कहते हैं) के दर्शन पा सकते हैं। अनेक स्थानों पर ये विलक्षण मनुष्य शिशुदेहधारी—अपरिणतबुद्धि, अशिक्षित, सुकुमार बालक बालिका—हैं। फिर भी वे जो लीलाएँ करते हैं उनको देखने से दाँतों तले उँगली दाबनी पड़ती है।

ध्रुव, प्रह्लाद और नचिकेता की तरह हम 'बालखिल्य' की चर्चा न छेड़ेंगे; क्योंकि उनकी कथा पौराणिक कहानी समझकर उपेक्षित हो सकती है। अतएव जो प्रत्यक्ष-गोचर प्रामाणिक घटना है, जिसकी सचाई के संबंध में कोई विवाद नहीं है, ऐसी घटना पर ही हम अपनी युक्ति को स्थापित करेंगे।

आजकल ब्रह्मदेश में एक अद्भुत बालक का आविर्भाव हुआ है। इसका नाम मोंगटून किगिं (Maung Htun Kyaing) है। १६२० ईसवी के जनवरी महीने में दक्षिण ब्रह्मदेश के मिंगस गाँव में इसका जन्म हुआ था। इस बालक के माता-पिता बहुत ही साधारण श्रेणी के व्यक्ति थे।

जब यह बालक ४ वर्ष छः महीने का हुआ तभी 'देही और देह', 'चित् और जड़', 'तमः और ज्योतिः', आदि उच्च दार्शनिक विषयों पर वक्तृता देने लगा। उसकी इन अद्भुत वक्तृताओं की चर्चा बहुत जल्द समूचे ब्रह्मदेश में फैल गई। प्रवीण और पंडित पुंगी लोगों के झुंड के झुंड उसकी वक्तृता सुनने के लिये आए। अंत में प्रसिद्ध उं जाँग मठ के अध्यक्ष स्थविर भिक्षु जागाआ, उस बालक के यशःसौरभ से आकृष्ट होकर, मिंग्स गाँव में आए और बच्चे की शक्ति देखकर दंग हो गए। उनसे उस बच्चे ने एकान्त में कहा था कि वह उस उं जाँग मठ का एक भूतपूर्व शिष्य है। ब्रह्मदेशवालों का विश्वास है कि उक्त बालक उं जाँग मठ का अध्यक्ष परलोकगत महास्थविर पांडिक्य है। इस पांडिक्य को स्वाधीन राजा थीबो ने, राज्य से च्युत होने के एक वर्ष पहले, इस मठ का अध्यक्ष बनाया था। सन् १९१५ ईसवी में, ७० वर्ष की अवस्था में, पांडिक्य का शरीरांत हुआ। ब्रह्मदेश की रीति के अनुसार उनके अनुरक्त भक्तों ने पांडिक्य के लिये एक सुवर्णमय अरथी की व्यवस्था की थी। सुनते हैं, उसी पांडिक्य ने इस अद्भुत बालक के रूप में जन्म लिया है।

अब यह बालक ब्रह्मदेश के विभिन्न केन्द्रों में व्याख्यान के लिये दौरा किया करता है*।

---

* इस बच्चे का विवरण हमें एक ब्रह्मदेशीय मित्र (राजा थीबो

हम नहीं कह सकते कि यह बालक उसी पांडिक्ष्य का नया कलेवर है अथवा नहीं। किंतु यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह बालक 'विलक्षण' (Infant Prodigy) है।

एक और अद्‌भुत बालिका का विवरण हमने सन् १९०६ ईसवी में पढ़ा था। उसकी माता पियानो बजाया करती (Pianist) थी। एक दिन वह पियानो बजाते बजाते किसी काम से दूसरे कमरे में चली गई। पियानो का ढक्कन खुला

के जामाता) ने बर्मी भाषा की पुस्तिका से अनुवाद करके भेजा है। वह इस प्रकार है—

At the age of 70 in 3rd Waseing of Taladwe 1277 B. E. (December 1915 or January 1916) he—Rev. Beckka Pandeiksha Sayadow died. .... After the interval of about four years the late Rev. B. Pandeiksha was reborn in the body of Maung Htun Kyaing in Minse village. Maung Htun Kyaing was born 2nd Wounen of Pyatho 1281 B. E. (December 1919 or Januarv 1920) on Tuesday in Minse village, Pantanow Township, Lower Burma. His father's name is Maung Ba Maung and mother's Ma Maiye who are religious. He is bright, beautiful and with fine eyes.

At the age of four years and six months he gave lectures on man and his body, spirit and matter, light and darkness, etc. The news of his wonderful lectures spread and the learned monks who personally heard his lectures praised him.

One Rev. Zagaya, the head of the Yunyung monastery of Panlamend town on hearing the child's news came down to Minse village to see the child Ma. Htun Kyaing. The child related the biography of his previous life and lastly softly whispering to him said that he (Rev. Zagaya) was one of his old disciples in Yunyung monastery.

ही रह गया। अकस्मात् उसने सुना कि कोई पियानो पर तान-लय से शुद्ध सुंदर 'गत' बजा रहा है। उसने लौटकर क्या देखा कि उसी की छोटी सी बेटी (Infant child) वह गत बजा रही है। इस बालिका ने पियानो के तारों को कुछ उलटा सीधा नहीं बजा दिया था, बल्कि वह बड़ी चतुराई से एक कठिन 'गत' बजा रही थी। और मजा यह कि उसने अपनी जिंदगी में आज ही पहले पहल पियानो को हाथ से छुआ था*।

एक और बच्चे की विलक्षण प्रतिभा का हाल कई महीने पहले समाचारपत्र में प्रकाशित हुआ था। यह बालक युक्त राज्य के वाशिंगटन प्रदेश में नवंबर सन् १६२० में उत्पन्न हुआ था। इसने ग्यारह महीने की उम्र में ही संगीत-प्रतिभा का परिचय दिया था। जब यह तीन वर्ष का था तभी चोपिन (Chopin) प्रभृति कठिन गतें अच्छी तरह बजाने लगा। इसका नाम लुई लिडग्रिन है। आजकल के विख्यात संगीताचार्य पदेरेस्कि (Paderewski) ने इस बालक की संगीत-शक्ति देख विस्मित होकर इसे आलोकचित्र उपहार में दिया और उसके

---

* The lady one day played some music on her piano, and then going into the next room was amazed to hear the same piece being skilfully performed. Returning she saw her infant child seated at the piano and playing, with the skill of an expert, music which normally none but a highly-trained pianist would attempt. To add to the mystery, this was the first time the child had been known even to touch the piano.

ऊपर लिख दिया 'To the wonderful child Laurene Lindgren' (अद्भुत बालक लारेंस लिंडग्रिन के लिये उपहार)* ।

यहाँ तक हमने विलक्षण संगीतज्ञों की चर्चा की । अब हम ऐसे ही गणितज्ञों का उल्लेख करेंगे । कुछ समय पहले विलायती संवादपत्र में नोम लिपस्की (Naum Lipowsky) नामक एक युवक की अद्भुत गणनाशक्ति का विवरण प्रकाशित हुआ था† । नीचे टिप्पणी में उस विवरण को हमने उद्धृत कर दिया

---

* Laurene Louise Lindgren, child prodigy of Seattle, Washington, began her public career at the age of eleven months, when she played a simple little piece on an organ. By the time she was three, she could play Chopin and other difficult compositions. She was born in Everett, Washington, November 1st, 1920. Her parents are both musicians.

During Paderewski's recent visit to Seattle, this baby girl played her way into his heart. She played for him his minuet, and he listened, amazed, and presented her with his photograph, inscribed: "To the wonderful child, Laurene Lindgren, with thanks for having played my Minuet. I. J. Paderewski."

† An extraordinary faculty of remembering has been exhibited by Naum Lipowsky in giving evidence of his powers before Dr. Spearman, Professor of Mind and Logic, at the University of London.

Psychologists have been baffled by this young man's amazing brain. A list of figures, long enough to encircle an ordinary room, is memorised by Lipowsky, in one reading and he can repeat them backwards or forwards.

Should anyone ask him, for example, the cube of 63, he will answer without hesitation 250,047. It is just as easy for him to find the root of a number. As an illustration, if anyone mentioned 456,533, he would reply that it represents three "77's" multiplied.

है। लिपस्की में ऐसी योग्यता है कि उसके सामने गजों लंबी संख्या लिखकर रखने से वह देखते ही, आँखें मूँदकर, बाईं ओर से और दाहनी ओर से उसको पढ़ सकता है। लंबे-चौड़े जोड़, बाकी, भाग और गुणा का समष्टि-फल वह मानसांक द्वारा उसी दम बता सकता है। वह बिना ही हिसाब लगाए बतला सकता है कि किस साल के, किस महीने की, किस तारीख़ को कौन सा दिन होगा; इसके सिवा वह और भी अद्भुत गणनाशक्ति का परिचय देता है। उसकी स्मरणशक्ति इतनी प्रखर है कि उसने दो ही दिन में अँगरेज़ी जैसी कठिन

But the most remarkable fact is his knowledge of days. He has every day of the Christian era carefully docketed in his mind. When asked on what day of the week May 1, fell in 1901, he replied accurately, "Wednesday." "Next year it will be on a Friday," he added.

"I never knew there was anything outstanding about my memory until I entered on a post-graduate course at Darmstadt Polytechnic," he told the *Daily Chronicle* "There the professors discovered that, although I never seemed to be studying, I could never be found at fault in my lessons.

"I have been spending two days learning your language, and have in that time memorised 2,000 words. But whereas a Russian peasant gets along comfortably with a vocabulary of 1,000 words, there are in English some 700,000 words, and to read a newspaper you must know 8,000.

Lipowsky makes no secret of his great gift. Everything he remembers because things have been photograpped by his mind, which retains a mental image of the incident. Long strings of words or figures are so photographed.

भाषा सीख ली है। एक बंगाली युवक अपनी इसी ढँग की गणनाशक्ति का परिचय दे रहा है। उसका नाम सोमेशचंद्र वसु है। वह अंकों को फैलाए बिना ही साठ अंकों का गुणन साठ अंकों से कर सकता है। भिन्न, घनमूल, वर्गमूल और अन्यान्य कठिन अंकों को वह, बात की बात में, सहज ही जोड़ देता है। इँगलैंड, अमेरिका और फ्रांस में इसने अपनी अद्‌भुत गणनाशक्ति दिखलाई थी। विगत १४ सितंबर के 'इँगलिशमैन' पत्र में उसका जो विवरण प्रकाशित हुआ था उसे हम ज्यों का त्यों नीचे, टिप्पणी में, उद्धृत करते हैं*। पाठक देखेंगे कि सोमेशचंद्र नोम लिपस्की से

* Mr. Somesh Chandra Basu, who claims to be the world's greatest lightning calculator and memory wizard, has come back to India after displaying his powers abroad. In his boyhood, Mr. Basu showed signs of a prodigious memory. At the age of eight, he could multiply 14 digits by 14 digits, without the help of paper and pencil. In his young manhood, he developed his memory-power to such an exent that he could multiply 60 degits by 60 digits mentally.

Mr. Basu can work out huge sums of square roots, cube roots, fifth, seventh to fifteenth root and also sums involving ugly equations, decimals or recurring decimals. By means of a process of his own, he can give the day of the week of a date in a year named at random. Success in mental calculation, Mr. Basu remarks, can be attained by virtue of concentration, good memory, swiftness, patience and accuracy. While figuring out problems, he sits silent, and while the calculation is in progress, an excited crowd might howl around him; nothing can perturb his calculation. It is this perfect mental equipoise which forms the chief feature of his

किसी अंश में कम नहीं है। लेखक ने स्वयं उसकी इस अद्भुत गणनाशक्ति को प्रत्यक्ष देखा है*।

---

performance. The rows and columns of figures are engraved on his mind and he can refer back to them as if they were written on a sheet of paper.

Besides many private demonstrations in London, his exhibition of feats in the Y. M. C. A. Hall and the "Evening News" office elicited much admiration from the London journals, which dubbed him the greatest mathematical prodigy of the world.

In America, he displayed his demonstrations in the Horace Mann auditorium of Columbia University, the Cooper Math. Club, Mecca College of Chiropractice, and other places.

The following is a table of his recorded achievements:—

In England.—Multiplication of 40 digits by 40 digits in 25 minutes; date calculations and other ugly sums.

In America.—Multiplication of 60 digits by 60 digits in 45 minutes; Cube root of 18 digits in three seconds; fifth root of 16 digits in one second; seventh root of 21 digits in one second; seventh root of 25 digits in two seconds; seventh root of 35 digits in three seconds.

In Paris.—Q: From 1873, 24th December, to 26th of February, 1924, 10 a. m., how many seconds? This question was answered in 27 seconds.

* इस संबंध में Harmsworth's Popular Science ग्रंथ vol. VI, P. 4192 में इस प्रकार लिखा है—

These children and youths—it is to be noted that their power usually disappears in later life—can perform, almost instantaneously, the most astonishing arithmetical feats. On enquiry it is found that they do not consciously calculate. The answer "comes into the mind" by inspiration. Of one of these remarkable persons, Mr. Bidder, it was said, "He had an almost miraculous power of seeing, as it were, intuitively, what

यदि इन विलक्षण मनुष्यों (Prodigy) की शक्ति जन्मांतरीण संस्कार का फल नहीं है तो फिर है क्या? दार्शनिक और वैज्ञानिक यदि इस प्रतिभा-समस्या और 'विलक्षण मनुष्यों' की समस्या का समाधान किसी और ढँग से कर सकें तो करें। जब तक वे ऐसा नहीं करते तब तक हम कालिदास की उक्ति का अनुकरण करके कहेंगे "प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्या:"। कालिदास के उस प्रख्यात श्लोक का पाठकों को अवश्य ही स्मरण होगा। कालिदास ने कहा है--जिस प्रकार शरत्काल उपस्थित होने पर हंसों की श्रेणी अपने आप गंगाजल में उतर आती है, जिस प्रकार रात होने पर ओषधि अपने आप चमकने लगती है, उसी प्रकार समय उपस्थित होने पर प्राक्तन-जन्म-विद्या अर्थात् पिछले जन्म के शक्ति-संस्कार जीव में आत्म-प्रकाश करते हैं। अतएव हम कहना चाहते हैं कि इस मनीषा और विलक्षण शक्ति के संबंध में जो बातें हमने कही हैं उनके द्वारा भी जन्मांतर-वाद का समर्थन होता है।

कई वर्ष से पाश्चात्य मनोविज्ञानी लोग एक व्यक्ति में बहु-व्यक्तित्वागम (Multiple Personality) की समस्या लेकर कुछ विपन्न हो रहे हैं। इस संबंध में उन्होंने बहुत परीक्षा-समीक्षा और आलोचना-गवेषणा की है, और अभी तक करते

---

factors would divide any large number, not a prime. Thus, if he were given the number 17861, he would instantly remark it was 337 × 53. He could not, he said, explain how he did this; it seemed a natural instinct to him.

जाते हैं; किंतु वे किसी संतोषजनक सिद्धांत पर नहीं पहुँच सके हैं। यदि वे इस क्षेत्र में इस जन्मांतर-वाद की सहायता लेते तो शायद उनको इस गहन समस्या में समाधान की उज्ज्वल रेखा दिखाई दे जाती। तो एक व्यक्ति में बहुव्यक्तित्वागम (Multiple Personality) क्या मामला है ?

समय समय पर देखा जाता है कि अभावनीय अचिंतनीय रूप से (अनेक स्थानों पर बिना ही कारण) कोई मनुष्य अकस्मात् और का और हो गया है। वह साधारण दशा में खा-पीकर प्रतिदिन जैसा किया करता था वैसे ही एक दिन अपने काम पर गया। और दिन की तरह दफ्तर का काम करके वह घर जाने के लिये रवाना हुआ; किन्तु रास्ता चलते चलते उसने सोचा कि मैं और हो कोई हूँ। आत्म-विस्मृत होकर वह अपने व्यक्तित्व को एकदम खो बैठा। कई वर्ष तक फिर उसका कुछ पता न चला; बहुत दिनों के परिश्रम के बाद जब उसे भाई-बंधुओं ने ढूँढ़ निकाला तब वह उन लोगों को पहचान तक नहीं सका। जिन लोगों ने इस श्रेणी के मनस्तत्त्व-विषयक ग्रंथों की छान-बीन की है उन्हें ऐसी घटनाओं का स्मरण हो आवेगा। कई वर्ष की बात है, लिओनी नाम की एक अशिक्षित स्त्री की वैज्ञानिकों ने बहुत बहुत परीक्षा की थी। कृत्रिम उपाय से सुलाने पर (जिसे 'हिप्नोटाइज' करना कहते हैं) वह अपने व्यक्तित्व को बिलकुल भूल जाती थी। हस्तसंचालन (pass) द्वारा या स्फटिक पर दृष्टि निबद्ध

कराकर उस स्त्री की कृत्रिम निद्रित दशा कर दी जाती थी; तब उसकी संवित् उस अर्द्ध-समाधि अवस्था में अन्य व्यक्ति के रूप में प्रकाशित होती थी। स्वप्न की दशा में पहुँचाई गई उस लिओनी का हाव भाव जाग्रत् लिओनी से बिलकुल विभिन्न देख पड़ता था। लिओनी की समाधि जब प्रगाढ़ हो जाती थी तब एक दूसरी ही स्त्री प्रकाशित होती थी। यह सोई हुई लिओनी स्वप्नवाली और जागती हुई लिओनी से सर्वथा विभिन्न होती थी। यह एक लिओनी तीन स्त्रियों के रूप में प्रकाशित हुई थी। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इसका नाम बहुव्यक्तित्वागम (Multiple Personality) रक्खा है। मायर साहब के Human Personality (मनुष्य का व्यक्तित्व) नामक ग्रंथ में इस संबंध में बहुत विवेचन है*।

एक व्यक्ति किस प्रकार अनेक व्यक्ति हो सकता है? इस समस्या को सुलझाने के लिये वैज्ञानिकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। इस संबंध में उनका 'प्रमेय' (Theory) यह है कि लिओनी जैसी संतान में कई एक पूर्व पुरुषों की विरुद्ध प्रकृति अथवा स्वभाव, पास ही पास रचित होकर, सन्निविष्ट हुआ

---

* The famous case of Leonie I, II and III is well-known; and it should be observed that Leonie I knew nothing of Leonie II and III; that Leonie II knew Leonie I but did not know Leonie III; that Leonie III knew both Leonie I and II. That is, the higher knows the lower, while the lower does not know the higher—a most pregnant fact —A Study in Consciousness, p. 23.

था। तो क्या यह 'प्रमेय' युक्ति-संगत है? प्रसिद्ध दार्शनिक जेम्स साहब ने अपने Varieties of Religious Experiences (धार्मिक अनुभवों की विचित्रताएँ नामक) ग्रंथ में इस मत का उल्लेख करके उसका खंडन किया है*।

इस समस्या का समाधान करने के लिये हम जन्मांतर का आश्रय लेना चाहते हैं। अपने पिछले जन्मों में हमने जो अभिज्ञता प्राप्त कर ली है वह नष्ट नहीं होती; उसका संस्कार हमारे कारणशरीर में (कोई-कोई कहते हैं, भूत-सूक्ष्म में अथवा permanent atom = स्थायी परमाणु में) संचित बना रहता है। समर्थ कारण उपस्थित होने पर ये सब संस्कार व्यक्त अथवा उद्बुद्ध होते हैं। जीव प्रत्येक जन्म में एक-एक व्यक्ति की भूमिका ग्रहण करते हैं। नट जिस प्रकार रंगभूमि में भीम, दुर्योधन अथवा वत्सराज की भूमिका में अवतीर्ण होता है, उसी प्रकार जीव उन व्यक्तित्वों (Personality) की नकाब पहनकर संसार-रंग-भूमि में अवतीर्ण होते हैं। अतएव उनके पूर्वजन्म का कोई अव्यक्त संस्कार-पुंज इस जन्म में संधुक्षित होकर उन्हें अन्य व्यक्ति के रूप में व्यंजित करे तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। ये विविध व्यंजनाएँ ही पाश्चात्य

* Heterogeneous personality has been explained as the result of inheritance—the traits of character of incompatible and antagonistic ancestors are supposed to be preserved alongside of each other. This explanation may pass for what it is worth—it certainly needs corroboration.—William James, Varieties of Religious Experiences, p. 169

वैज्ञानिकों का 'एक में अनेक व्यक्तियों का आगम' (Multiple Personality) है।

जन्मांतर-वाद के अनुकूल हमने अनेक प्रकार की दार्शनिक और वैज्ञानिक युक्तियाँ उपस्थित की हैं। किन्तु ऐसे भी प्रगाढ़ जड़वादी हैं जिनके अविश्वास रूप दुर्भेद्य वर्म को युक्तियाँ भी तोड़ नहीं सकतीं। वे प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवा और किसी बात पर विश्वास नहीं करते। तो क्या जन्मांतर का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी है? अगले अध्याय में हम इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

———

नवम अध्याय

जन्मांतर और जातिस्मर

हम देख चुके हैं कि प्रमाण तीन प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। जन्मांतर को सिद्ध करने के लिये हमने पहले विभिन्न जातियों के धर्म-ग्रंथों से बहुत से 'आगम'-प्रमाण उद्धृत कर दिए हैं। इसके बाद जन्मांतर का पोषण करनेवाली बहुत सी दार्शनिक और वैज्ञानिक युक्तियों की अवतारणा की थी—ये युक्तियाँ जन्मांतर-साधक 'अनुमान'-प्रमाण थीं। अब प्रश्न यह है कि जन्मांतर का क्या कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी है? हम इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि प्रत्यक्ष ही प्रमाणों का राजा है—सबसे बढ़कर प्रमाण है। तो क्या जन्मांतर का समर्थक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है?

हमने कई बार दिल्ली जाकर कुतुब-मीनार को देखा है; अमृतसर जाकर दरबार साहब के दर्शन किए हैं; और काशी में विश्वनाथजी के दर्शन किए हैं। ये सब हमारी प्रत्यक्षसिद्ध घटनाएँ हैं। इसके लिये किसी आगम-प्रमाण या किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं है। ऐसी नजीरें देकर शंका करने-वाले कहते हैं कि 'जन्मांतर यदि सच्ची घटना होती, यदि वास्तव में हमारा जन्म पहले भी हुआ होता; यदि एक बार नहीं, बल्कि कई बार पृथ्वी पर हमारा जन्म हुआ होता तो

क्या पिछले जन्म की हमें कुछ भी खबर न रहती ? बहुत उपाय करने पर भी हम पिछले जन्म के विवरण का उद्धार करने में सफल नहीं हुए। जिस प्रकार बचपन की अनेक घटनाएँ, युवावस्था के बहुत से मामले इस अधेड़ उम्र में भी हमें अच्छी तरह याद हैं, उसी प्रकार पिछले जन्म का कोई किस्सा हमें याद क्यों नहीं है ? स्मृति-समुद्र को मथने पर भी हमें पिछले जन्म का कोई समाचार क्यों नहीं मिलता ? क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि जन्मांतर निरी कल्पना है ?' यह शंका निर्मूल नहीं है। हम इसका समाधान करने की चेष्टा करेंगे।

पिछले जन्म का हमें स्मरण क्यों नहीं आता ? इसका कारण बतलाना कुछ कठिन काम नहीं है। साधारणतः हमारी स्मृति शक्ति का संबंध हमारे मस्तिष्क के साथ रहता है। हम जिस जन्म में जिस मस्तिष्क से स्मृति-शक्ति का काम ले रहे हैं वह मस्तिष्क (Brain) इस जन्म की मिली हुई संपत्ति है। हमने पिछले जन्म में जिस मस्तिष्क की सहायता से जीवन-व्यापार किया था उस मस्तिष्क का नाश मृत्यु होते ही हो गया। जब हमारा दूसरा जन्म हुआ तब हमें विरासत में वही पुराना मस्तिष्क नहीं मिला। फिर इस नए मस्तिष्क के द्वारा पिछले जन्म की बातों का स्मरण हमें क्योंकर हो सकता है ?

यह भी कह देना चाहिए कि पिछले जन्म की सारी घटनाएँ हमें भले ही याद न हों, किंतु उनका संस्कार अनेक

अवसरों पर हमारे मन में स्पष्ट काम किया करता है। पिछले अध्याय में हमने जिस विलक्षण बालकों (Prodigy) की घटना का उल्लेख किया है उसमें इस ढँग का संस्कार बहुत ही स्पष्ट है। ऐसे बच्चे देखे गए हैं जो बिना ही तालीम के खासे संगीतज्ञ थे, गणित के पारदर्शी विद्वान् थे और जन्म से ही कवि पैदा हुए थे। उन्होंने इस जन्म में उन विद्याओं का स्वप्न में भी अभ्यास नहीं किया था। फिर वे विद्याएँ उनको किस तरह आ गईं ? आई जन्मांतर के संस्कार से। कभी कभी देखा जाता है कि दो मनुष्यों के बीच पहली भेट में ही पक्की मित्रता या शत्रुता हो गई। पहले उनसे कभी जान-पहचान तक न थी—यही पहली भेट थी और अकारण, बिना ही मतलब के, ऐसी शत्रुता या मित्रता हो गई। यह भी पिछले जन्म के संचित संस्कार के उद्बोधन का फल है। जन्मांतर के समर्थन में ये घटनाएँ प्रत्यक्ष प्रमाण मानी जा सकती हैं।

एक और बात है। यह ठीक है कि साधारणत: पिछले जन्म की घटनाओं की हमें याद नहीं रहती। किंतु ऐसे दृष्टान्त भी स्वल्प नहीं हैं कि पिछले जन्म की खास खास घटनाएँ समय समय पर किसी किसी को—खासकर बच्चों को—याद आ जाती हैं। कुछ समय हुआ, एक अमेरिकन महिला ने कलकत्ते में, तत्त्वसभागृह में, जन्मांतर के संबंध में एक व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यान में उन्होंने अपनी अभिज्ञता से एक ऐसी लड़की का हाल सुनाया था जो अमे-

रिका के युक्त राज्य के उसी गाँव में रहती थी जिसमें कि उक्त महिला का घर था। उल्लिखित लड़की अपनी माँ से हमेशा कहा करती, 'तुम हमारी माँ हो सही, किंतु हमारी दूसरी माँ कहाँ है ? (You are my mother, where is my other mother?)' बेटी के इस प्रश्न पर माता ध्यान ही न देती थी। एक दिन दैवयोग से दोनों माँ-बेटी अपने गाँव से २०० मील की दूरी पर एक गाँव में अपनी सखी से मिलने गईं। उस स्त्री को इस लड़की ने पहले कभी देखा नहीं था। असल में वह इसकी पिछले जन्म की माता थी। उसे देखते ही लड़की चटपट उसकी गोद में जा पहुँची और कहने लगी 'यही तो मेरी माँ हैं, यही तो मेरी माँ हैं।' अब वह बतलाने लगी कि उसकी (पिछले जन्म की) माँ के घर में किस कमरे में उसकी कौन सी चीज या खिलौना रक्खा रहता था। उक्त स्त्री ने अपनी मरी हुई लड़की की जो चीज़ें ठीक जगह से हटाई नहीं थीं वे वहीं मिल गईं जहाँ पर कि वह लड़की बतला रही थी।

ऐसी ही एक और घटना, कई वर्ष पहले, तारकेश्वर के समीप आलाटी जंगलपाड़ा गाँव में हुई थी। बंगाल की सरकार के दफ्तर के एक कर्मचारी बाबू अमरकुमार मित्र ने इसका विवरण हमारे पास लिख भेजा था। उस विवरण को हम यहाँ टिप्पणी में उद्धृत किए देते हैं*।

---

* My maternal uncle's house is situated in village Alati-Jungle-Para, near Tarkeshwar, District Hoogly. My maternal uncle Babu Jogendra Nath Ghosh who was

पाठक देखेंगे कि अमर बाबू ने जिस बालिका का उल्लेख किया है उसे भी बचपन में पिछले जन्म की बहुत सी बातें

---

a supervisor of P. W. Department, Railways, spent the best portion of his service on railway construction work in different parts of India, Beluchistan, Kabul and Burma. About 34 years ago he had an only daughter. My aunt and this daughter with other family members lived in the above village, while my maternal uncle was abroad in the service. Unfortunately this daughter died at the age of 6 years. This caused a great shock to my aunt. My uncle returned home 6 years after this sad occurrence. A year later a second female child was born to them. This child almost resembled the former.

When her age was between four and five, she began to speak of past things which had existed in the house during the life-time of her departed sister.

(1) There was a well in the courtyard of the house where the first girl accompanied her mother many a time and oft. Shortly after her death this well was filled in and no trace of it was left. The second daughter on completing her fourth year of age often asked her mother and other family members about this well. She pointed out to everybody's surprise the very spot where the well had existed before. The story does not end here.

(2) The first girl had a toy-box containing some pretty dolls arranged by herself. After her death her mother took care to preserve the box undisturbed in loving memory of her daughter. On a certain occasion, another lady of the house gave away two out of these dolls to a neighbour's child without my aunt's knowledge. When the second girl attained her fifth year of age, her mother gave her this toy-box to play with, and the girl opening the box began to take out and re-arrange the dolls. A few minutes later, she questioned her mother as to who had removed two dolls out of the box. The mother was perplexed and surprised and on

याद थीं। पिछले जन्म में वह एक भले घर की बेटी थी और छः वर्ष की उम्र में मर गई थी। मरने पर ७ वर्ष के

---

questioning the other members of the house she came to learn that the missing dolls had been removed by another member of the house without her knowledge and consent.

(3) The third prominent incident of her life was in connection with a maid-servant of the house who during the first daughter's life-time was called by every body 'Baidyanath's mother'. The cottage of this maid-servant was situated close to my aunt's house. Baidyanath died under the eyes of the first girl and for some days afterwards she accompanied her mother to the maid-servant's house on the sympathetic mission of solacing the poor woman. Shortly afterwards the maid-servant left the village in agony, her cottage fell into ruin, and she was thought of no more. My aunt's second daughter on attaining her fifth year of age began to ask her questions about Baidyanath's mother. This reminded her of her former daughter and her former maid-servant too. In order to test the second daughter's memory, she replied to her that there was no one in the house by the name of Baidyanath's mother. The girl retorted that there was the woman who always wept and cried Oh Baidyanath! Oh Baidyanath!! and she urged her mother to show her Baidyanath's mother's house. The mother and several other members of the family out of strong curiosity took her out of the house and followed her wherever she went. The girl took the way leading to the maid-servant's former cottage, and on reaching near the place she at once cried out and spontaneously pointed out the exact site where Baidyanath had lived with his mother. The above three main incidents in the girl's life and several of her minor babblings in her early life convinced the family members beyond all doubt that she was the first girl reborn with a partial memory of her past life. But one

बाद वह फिर उन्हीं के यहाँ, लड़की के रूप में, पैदा हुई। ४ वर्ष की उम्र में वह, पिछले जन्म में देखे हुए, एक कुएँ की चर्चा अक्सर किया करती थी। उसका जन्म होने से पहले ही यह कुआँ मूँद दिया गया था और इस समय उस कुएँ का कोई चिह्न तक न था। फिर भी उस लड़की ने उस कुएँ की ठीक ठीक जगह बतला दी थी।

पहली लड़की के मरने पर माता ने उसके खिलौनों को, यादगार के तौर पर, सावधानी से रख छोड़ा था। उनसे पूछे बिना उनकी एक नातेदारिन ने उन खिलौनों में से दो पुतलियाँ किसी को दे दी थीं। माता को इस बात की खबर न थी। इसके बाद उनकी दूसरी बेटी जब पाँच वर्ष की हुई तब माता ने उसे वही खिलौनों की पिटारी दे दी। उन पुतलियों को बालिका ने दो एक बार उठा उठाकर देखा-भाला, फिर कहा 'यह मेरी है, यह मेरी है, किंतु मेरी दो पुतलियाँ कहाँ गईं?' माता ने विस्मित होकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि उनकी एक आत्मीया ने दो पुतलियाँ किसी और को दे दी थीं।

---

peculiarity noticeable was that from the sixth year of her age onwards she never spoke of the incidents of her past life.

This girl is still alive and is the wife of Babu * ... ...* B. L., Pleader, Judge's Court, Burdwan, and a member of the Legislative Assembly of India.

उस पहली लड़की की एक नौकरनी थी। उसका नाम 'वैद्य की माई' था। उस वैद्यनाथ के मर जाने पर यह नौकरनी 'बदे बदे' कहकर अक्सर रोया करती थी। उसे ढाढ़स बँधाने के लिये घर की मालकिन अपनी पहली लड़की को साथ लेकर कई बार पास ही के, वैद्यनाथ की माई के, गाँव आई गई थीं। कुछ समय में वैद्यनाथ की माई मर गई और उसकी झोपड़ी भी गिर पड़ी। यह दूसरी लड़की जब छः वर्ष की हुई तब प्रायः वैद्यनाथ की माई को पूछा करती थी। यह कहा करती—मुझे अच्छी तरह याद है कि वैद्यनाथ की माँ अपने लड़के का नाम ले लेकर रोया करती थी। लड़की उस बुढ़िया का घर देखने का हठ भी करती थी। उसकी जिद देखकर उसके आत्मीय उसे वैद्यनाथ की माई के गाँव में उसकी झोपड़ी दिखाने ले गए। वहाँ पहुँचकर बिना ही कुछ बतलाए उसने आगे बढ़कर बतला दिया कि वैद्यनाथ की माई की झोपड़ी यहीं पर थी; वह यहीं पर रहती थी*।

[आजकल बहुत से आदमी प्लांचेट नामक यंत्र या तीन पैर-वाले गोल टेबुल की सहायता से मृत मनुष्यों की आत्माओं से बातचीत करके बहुत सी बातों का पता लगा लेते हैं। इनमें से बहुत बातें ठीक नहीं भी निकलतीं; क्योंकि कभी कभी बिना बुलाए

* पृष्ठ ३२२ के दूसरे पैराग्राफ से लेकर पृष्ठ ३२९ के पहले पैराग्राफ तक का विषय अनुवादक ने अन्य स्थलों से लेकर, विषय को विशद करने के लिये, संयुक्त कर दिया है। यह श्रीयुक्त बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त की पुस्तक में नहीं है।

अपरिचित व्यक्ति की आत्मा अपने को आहूत मनुष्य की आत्मा बताकर, खिलवाड़ या शरारत में गलत बातें कह जाती है। परंतु अनुभवी और शुद्ध विचारवाले व्यक्तियों को इसमें धोखा होने का भय कम रहता है। एक काशीवासी सज्जन इस कला में सिद्धहस्त सुने जाते हैं और वे बिना प्लांचेट की सहायता के ही अपने घर, हाथ की सहायता से, मृत व्यक्तियों के संदेश प्राप्त कर लेते हैं। हाँ, यदि किसी का पुनर्जन्म हो जाता है तो उसका सूक्ष्म शरीर न रहने से उससे बात-चीत नहीं हो सकती। पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'आध्यात्मिकी' में इस प्रकार के प्रयोगों का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—जिस समय हम झाँसी में थे, हमारे एक मित्र इस प्रकार की चक्र-क्रिया अकसर किया करते थे। ग्वालियर के एक प्राचीन मृत कवि (उनका नाम हम भूलते हैं) हम लोगों के चक्र से ख़ूब परिचित हो गए थे। चक्रसिद्धि होते ही वे आ जाते थे। उनको इत्र सूँघने और गाने से बड़ा शौक था। उन्होंने एक युवक को चुन लिया था। उसी के सिर वे आते और इत्र तथा फूल सूँघकर गाना सुनते थे। वे खुद भी अच्छी-अच्छी गजलें गाते थे। उनका सबसे प्यारा फारसी का यह शेर था—

चु कुफ़्र अज़ क़ाबा बरख़ेज़द
कुजा मानद मुसल्मानी।
चरा कारे कुनद आक़िल
के बाज़ आयद पशेमानी॥

उनको हम लोग गीतगोविंद सुनाया करते थे। "पश्यति दिशि दिशि रहसि भवंतम् । तदधर-मधुर-मधूनि पिबंतम्" यह गीत आपको बहुत पसंद था, इसको आप बार-बार दोहराते थे। श्रीमद्भागवत का "नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय" आदि श्लोक भी वे बड़े प्रेम से सुनते थे। हमने पता लगाया तो मालूम हुआ कि ये कविवर ग्वालियर ही के थे और इनको मरे हुए कोई चालीस-पचास वर्ष हुए थे।

हमारे चक्र में बाँदा का एक लड़का बड़ा उत्पात मचाता था। वह मुसल्मान था। वह बीच-बीच में, बिना प्रेरणा के, आ जाता था। दो-एक दफ़े जो उसने शरीर में संचार किया तो वह बेतरह रोया और चिल्लाया। उसका पता लिखकर हमने बाँदा के स्टेशनमास्टर से उसका हाल दरियाफ़्त किया तो मालूम हुआ कि वह पाँच वर्ष पहले हैजे से मर गया था। उस समय उसका विवाह होनेवाला था; उसकी उम्र कोई १८ वर्ष की थी।

एक दिन के चक्र में एक लार्ड आए। उस दिन पंडित मुरलीधर मिश्र, स्कूलों के डेप्युटी इंसपेक्टर, भी मौजूद थे। ......। लाट साहब ने अपना नाम और पूरा पता दिया और कहा कि कलकत्ते में उस समय कोई जलसा है। उसी में शामिल होने के लिये वे जा रहे हैं। उन्होंने ऐसी अच्छी अँगरेजी में बातचीत की कि हम लोग दंग हो गए। जिसके सिर वे आए थे वह बेचारा मुश्किल से दो-चार टूटे-फूटे वाक्य अँगरेजी में बोल सकता था।

इस प्रकार की मुक्त आत्माओं से यदि शुद्ध भाव से पूछा जाय तो बहुत सी अच्छी अच्छी बातें मालूम हो सकती हैं। इनमें से हमने कई एक मृत मनुष्यों के विषय में प्रश्न किया। उनमें से कई हमारे कुटुंबी भी थे। मालूम हुआ कि कई का तो पुनर्जन्म हो गया; पर कई अभी मुक्त ही अवस्था में हैं। उनमें से, हमारी प्रार्थना पर, उन्होंने एक-आध मुक्त आत्मा से हमारा परिचय भी कराया। एक दिन हमने ग्वालियर के कविजी से कहा कि आप कालिदास या भवभूति को, यदि वे मुक्त हों तो, बुलाइए। इस पर कविजी बेतरह अट्टहास करके हँसे। कोई पाँच मिनट तक आप हँसते रहे। आपने कहा कि भवभूति का हाल यहाँ किसी को नहीं मालूम। हाँ, कालिदास को लोग जानते हैं। पर वे कहाँ हैं, किस दशा में हैं, पुनर्जन्म को प्राप्त हो गए हैं, या कहीं किसी अन्य लोक में हैं— इसका पता उनको मालूम नहीं। आपने दिल्लगी में पूछा कि शंकराचार्य या श्रीकृष्ण से भी बातचीत करने को हम लोगों का जी चाहता है या नहीं ?

दो तीन वर्ष पहले बरेली के वकील श्रीकैकेयीनंदनसहाय ने पूर्वजन्म की स्मृति के प्रश्न को सामयिक पत्रों में उठाया था और जहाँ कहीं जाति-स्मर व्यक्तियों का पता चला वहाँ खोज करके उन्होंने प्रामाणिक बातें प्रयाग के 'लीडर' पत्र में छपवाई थीं। उसी समय इस विषय में दिलचस्पी लेनेवाले कुछ और सज्जनों

ने भी बहुत सी बातें उस पत्र में प्रकाशित करवाई थीं। उनमें से तीन कथाएँ हम यहाँ पर आध्यात्मिकी से उद्धृत करते हैं।—

"लीडर" के १ अक्तूबर १९२६ के अंक में बाँदा के प्रासिक्यूटिंग इन्सपेक्टर श्रीपद्मसिंह ने निम्नलिखित समाचार प्रकाशित कराया था—

कोई आठ वर्ष की बात है कि मथुरा जिले के पटियाली गाँव के एक पेंशनयाफ्ता डिप्टी कलक्टर की स्त्री का देहांत हो गया। उसके कुछ समय बाद ही, पास के एक गाँव में, किसी ब्राह्मण के यहाँ एक लड़की पैदा हुई। यह ब्राह्मण भीख माँगकर अपना निर्वाह करता था। चार-पाँच वर्ष की होने पर लड़की ने अपने पिता को भीख माँगने से मना किया और कहा कि मुझे पटियाली के डिप्टी साहब के घर ले चलो; वहाँ मेरा बहुत सा धन गड़ा है। ब्राह्मण लड़की को डिप्टी साहब के पास ले गया। उन्हें देखते ही उसने घूँघट काढ़ लिया। उसने डिप्टी साहब को अपना परिचय दिया और मुहल्ले की स्त्रियों को पहचाना। डिप्टी साहब के पूछने पर उसने कुछ वैवाहिक रहस्य भी प्रकट किए। इसके बाद उसने वे स्थान बताए जहाँ धन गड़ा था। खोदने पर कई हजार की कीमत के आभूषण हिफाजत से रखे हुए पाए गए।

जिला सीतापुर, तहसील सिधौली, में एक मौजा हीरपुर है। वहाँ पंडित पुत्तूलाल ब्राह्मण रहते हैं। आपकी उम्र

कोई ५८ वर्ष की है। १२ वर्ष तक आप कमालपुर के शफ़ा-खाने में कंपौंडर थे। अब आप पेंशन पाते हैं। आपके कई लड़के हैं। एक दफे आपकी स्त्री अपने एक लड़के के साथ अयोध्याजी गई। वहाँ से लौटने पर ९ महीने बाद उसने एक और पुत्र प्रसव किया। उसका नाम रखा गया सुंदरलाल। यह बच्चा जब बोलने लगा तब उसने कहा, मेरा नाम सुंदरलाल नहीं, हन्नेलाल है। मैं कायस्थ हूँ। फैजा-बाद के कटरा-फूटा महल्ले का रहनेवाला हूँ। मेरे दो बच्चे हैं और स्त्री भी है। उससे पूछा गया कि फिर तुम यहाँ कैसे आए। उत्तर दिया कि जब मेरा मृत शरीर सरयू में फेंक दिया गया तब मेरी वर्त्तमान माँ वहीं स्नान कर रही थी। उसी के साथ मैं यहाँ चला आया। बच्चे की ये बातें सुनकर पुत्तूलाल और उनकी स्त्री ने बहुत कुछ पूजा-पाठ कराया और यंत्र-मंत्रों का भी सहारा लिया। तथापि ७ वर्ष की उम्र तक लड़का अपने पूर्व-जन्म की बातें नहीं भूला। फिर धीरे धीरे भूल गया। इस समय उसकी उम्र १४ वर्ष की है। इस घटना की खबर राजा सूरजबख्शसिंह को लगी। इस पर उन्होंने अपने खजानची पंडित भगवानदीन को फैजा-बाद भेजा। उनसे कहा गया कि वे वहाँ सुंदरलाल की बातों की जाँच करें। वे वहाँ गए, पर फैजाबाद में कटरा-फूटा नाम का कोई महल्ला न मिला। तब वे अयोध्या गए। वहाँ जाँच करने पर उन्हें हन्नेलाल का मकान मिल गया। उसकी

स्त्री और बच्चों का भी पता लग गया। पंद्रह वर्ष पहले छन्नेलाल प्लेग से मरा था। उसका शव सरयू में बहा दिया गया था। शव के साथ जानेवाले एक आदमी ने इस बात की तसदीक की। छन्नेलाल पूर्व-जन्म में लड़के पढ़ाता था। मरने के समय उसकी उम्र ४५ वर्ष की थी। उसकी विधवा अब तक जीवित है। (लीडर, २६-६-२६)

बाबू श्यामसुंदरलाल हलद्वानी में स्टेशन-मास्टर हैं। आपने अपनी लड़की की कथा अखबारों में इस प्रकार प्रकाशित की है—

मेरे एक लड़की है। सन् १६१६ ईसवी के आषाढ़ में उसका जन्म बरेली में हुआ। मैं १६२२ के श्रावण में यात्रा करने मथुरा गया। वहाँ से गोकुल पहुँचा। साथ में मेरी स्त्री और लड़की भी थी। गोकुल में एक घर के पास पहुँचते ही मेरी लड़की गोद से उतर पड़ी। उस घर के द्वार पर एक वृद्ध स्त्री बैठी हुई थी। उसे हटाकर वह भीतर चली गई। मेरी स्त्री भी उसके पीछे पीछे उस घर में घुस गई। लड़की ने वहाँ उस बूढ़ी स्त्री से अपनी दावात और पट्टी माँगी। इसके बाद उसने घर की और भी कुछ चीजों की देखभाल की और अपनी माँ से कहा कि तुम पान खा लो और अपने घर जाव। मैं यहीं रहूँगी; यही मेरा घर है। यह दशा देखकर वह बूढ़ी स्त्री रोने लगी। इसके बाद ये सब लोग

यमुना-तट को गए। साथ में वह स्त्री भी गई। वहाँ कछुवों को देखकर लड़की ने कहा—"एक दफे तुम मुझे इसी यमुना में डुबो चुके हो। अब क्या फिर भी डुबो दोगे?" लड़की ने वह जगह भी बताई जहाँ वह नहाते वक़्त डूब गई थी। यहाँ उसने अपने लिये पुल्लिंग का प्रयोग किया। इस पर उस बूढ़ी स्त्री ने बताया कि मेरा १२ वर्ष का लड़का, ४ वर्ष हुए, उसी जगह डूबकर मरा था जो जगह लड़की बता रही थी। उस समय लड़की की उम्र ३ वर्ष १ महीने थी। गोकुल में अपने पूर्व-जन्म का घर देखते ही उसे उस जन्म की बातें याद आ गई थीं। इस घटना से यह भी सिद्ध हुआ कि पूर्व-जन्म में पुरुषत्व पाया हुआ प्राणी अगले जन्म में स्त्रीत्व भी प्राप्त कर सकता है। (लीडर, २३-६-१६२६)]

इन घटनाओं को जन्मांतर का प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाना क्या अनुचित होगा? हाँ, यह ठीक है कि ये प्रमाण खूब प्रबल नहीं हैं। यदि पिछले जन्म की स्मृति हमारे चित्त-पट पर स्पष्ट रूप से अंकित कराई जा सकती तो जन्मांतर होने का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल हो सकता। ऐसा करने के लिये क्या कोई उपाय है?

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन!
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

'हे अर्जुन! हमारे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं; उन सबका हाल मुझे मालूम है, तुम्हें उनका पता नहीं।' 'श्रीकृष्ण की इस उक्ति से मालूम होता है कि न सिर्फ मनुष्य का अनेक बार जन्म ही होता है, बल्कि कोई कोई उन जन्मों की याद भी कर सकता है। जो लोग इस प्रकार पिछले जन्मों का स्मरण कर सकते हैं उन्हें इस देश में 'जातिस्मर' कहते हैं। यहाँ पर 'जाति' का मतलब जात-पाँत नहीं, बल्कि उसका अर्थ 'जन्म' है; अर्थात् जातिस्मर उसे कहते हैं जिसे अपने पिछले जन्म का स्मरण बना हो।

इस प्रकार बौद्धों के जातक-ग्रंथ में, भगवान् बुद्धदेव के अनुभूत पिछले जन्मों की बहुत सी कथाएँ लिखी हुई हैं। उपदेश के प्रसंग में बुद्ध भगवान् शिष्यों से अक्सर कहते हैं— 'पहले वाराणसी नगर में ब्रह्मदत्त के राजत्वकाल में जब मैं 'अमुक' था तब फलाँ फलाँ घटना हुई थी।' 'पहले तक्षशिला में जब 'अमुक' धर्माध्यक्ष थे तब मैंने उनके सहकारी रूप से फलाँ फलाँ काम किए थे और यह सारिपुत्र मेरा सहचर था;' इत्यादि, इत्यादि। पातंजल दर्शन के प्राचीन व्यास-भाष्य में भगवान् जैगीषव्य की एक कथा उद्धृत की गई है।

"भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कार-साक्षात्करणात् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रमम् अनुपश्यतो विवेकजज्ञानं प्रादुरभूत्।"

इस तत्त्वज्ञानी महर्षि के दस कल्पों में जितनी बार जिस जिस योनि में जन्म हुए थे उन सब जन्मों का ब्योरा उनके

स्मृति-पट पर मुद्रित था; अर्थात् श्रीकृष्ण और बुद्धदेव प्रभृति की भाँति वे भी 'जाति-स्मर' थे। जिस प्रकार इस जीवन की घटनाएँ, बहुत अंशों में, हमारे स्मृति-पट पर मुद्रित रहती हैं और चेष्टा करने से हम उन्हें याद कर सकते हैं उसी प्रकार 'जाति-स्मर' लोग इच्छा करते ही अपने पिछले जन्मों की घटनाओं को सहज ही याद कर सकते हैं। उनके लिये जन्मांतर तो प्रत्यक्षसिद्ध घटना है; इस मामले में उन्हें युक्ति, तर्क या आप्त वाक्य का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती। इस अधेड़ अवस्था में जिस प्रकार हमारे लिये बाल्य, कैशोर और युवावस्था प्रत्यक्ष-सिद्ध है उसी प्रकार 'जाति-स्मर' के लिये जन्मान्तर भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

तो क्या कोई जाति-स्मर हो सकता है? यदि हो सकता है तो किस उपाय से?

कई वर्ष पहले, 'थियासोफ़िस्ट' पत्र में "Rents in the veil of time" शीर्षक देकर कई एक निबन्ध धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। ये निबन्ध अब पुस्तकाकार प्रकाशित हो गए हैं। उक्त ग्रन्थ में कई व्यक्तियों के पिछले जन्मों का ब्योरा विस्तार के साथ दिया हुआ है। उल्लिखित व्यक्ति किस देश में, किस समय, किसके घर पैदा हुआ था और उसने अपने जीवन-नाटक का अभिनय किस प्रकार किया था, इन सब बातों का, जन्मों के सिलसिले से, विवरण दिया हुआ है। जिन्हें जन्मान्तर पर विश्वास नहीं है, खासकर

जो लोग योग-सिद्धि के द्वारा जाति-स्मर होने की बात को प्रलाप समझते हैं वे अवश्य ही इस नई जातक-माला को पढ़कर मुँह बनावेंगे—मजाक करेंगे। वे जरूर ही कहेंगे—'तो क्या पूर्वजन्म सचमुच में है? अगर हो ही तो क्या उसका स्मरण हो सकता है!' इन सब अविश्वासियों को हम प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर अलिवर लॉज की एक बात का स्मरण कराए देते हैं। वह बात लॉज साहब के Survival of Man ग्रंथ के २८२ वें पृष्ठ से उद्धृत की जाती है—

"Objects appear to serve as attractive influences or nucleii from which information may be clairvoyantly gained. It appears as if we left traces of ourselves, not only on our bodies, but with many other things with which we were subordinately associated, and these traces can thereafter be detected by a sufficiently sensitive person".

सर अलिवर लॉज की इस उक्ति पर ध्यान देने के लिये हमारा पाठकों से अनुरोध है। लॉज साहब कहते हैं कि हमारी देह के साथ जिन वस्तुओं का संयोग अथवा संबंध होता है, (जैसे हाथ की अँगूठी, आँख का चशमा, सिर के बाल, इत्यादि) उन वस्तुओं में ही हमारे किए हुए कार्य का संस्कार (Trace) रक्षित रहता है और जिन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है,

अर्थात् जो लोग sufficiently sensitive या clairvoyant, हैं, जिनकी अनुभव-शक्ति सर्वसाधारण से बहुत तेज है वे उन सब संस्कारों की सहायता से—जिसका संस्कार है उसका हाल जान सकते हैं। यदि यह बात मिथ्या न हो तो हम समझ गए कि जाति-स्मर होने की युक्ति क्या है। इस युक्ति को भगवान् पतंजलि ने योगसूत्र में बहुत पहले ही खोल दिया है—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।—३।१८

इस पर व्यासभाष्य यह है—

तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानं उत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम्।

अर्थात् इस प्रकार अपने संस्कार का साक्षात् हो जाने पर योगी पुरुष अपने पिछले जन्म का वृत्तांत मालूम कर लेते हैं और दूसरे के संस्कार का साक्षात्कार हो जाय तो उसके भी पिछले जन्मों का हाल मालूम कर सकते हैं। सारांश यह कि जातिस्मर होने का उपाय है संस्कार से भेट होना।

इस संस्कार के विषय की तनिक छान-बीन कर लेनी चाहिए। पाश्चात्य विज्ञान की भाषा में संस्कार का नाम Memory-picture है।

साफ दोपहरी ढलने पर जब सूर्यनारायण जवाकुसुम की सी मूर्ति धारण करके अस्ताचल पर जाने लगते हैं तब थोड़ी देर तक उस मूर्ति की ओर नजर जमाकर देखने के बाद साफ दीवाल की ओर देखने से उन्हीं सूर्य की एक दूसरी मूर्ति

हमें देख पड़ती है। संभव है, बहुतों ने इसका अनुभव किया हो। ऐसा क्यों होता है? सफ़ेद दीवाल पर सूर्य की प्रति-मूर्ति तो अंकित है नहीं, तब फिर वह मूर्ति हमें क्यों देख पड़ती है? संस्कार के फल से देख पड़ती है। पश्चिम आकाश की जो सूर्य की मूर्ति हमारी आँखों पर प्रतिभात हुई थी उसका संस्कार हमारी आँखों पर रक्षित था। सफ़ेद दीवाल पर जब उन आँखों को जमाया तब उसी रक्षित संस्कार ने उद्‌बुद्ध होकर सूर्य की एक नई मूर्ति गठित कर दी। तंत्र के ग्रंथों में जिसे काल पुरुष का दर्शन कहते हैं वह भी इसी का समजातीय काम है। साफ चाँदनी रात में छत पर जाकर, चन्द्रमा की ओर पीछे मुड़कर, यदि हम अपनी छाया को देखें और कुछ देर में छाया से दृष्टि हटाकर यदि इसी दृष्टि को आकाश में स्थापित करें तो वहाँ एक मनुष्य-मूर्ति देख पड़ती है। यह और कुछ नहीं—उक्त छाया-दर्शन के समय आँख के पर्दे पर (Retina में) मनुष्य-छाया की मूर्ति का जो संस्कार (impression) संचित हो गया था वही संस्कार उद्‌बुद्ध होकर इस स्थान पर आकाश में प्रतिमूर्ति बना देता है। इस प्रकार हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं, सूँघते हैं अथवा चखते हैं उसका संस्कार (impressions या vestiges) उस उस इंद्रिय में अथवा सब इंद्रियों के केन्द्र मस्तिष्क में रक्षित रहता है। जब घटनाक्रम से उस उस संस्कार का उद्बोध होता है तब वही वही पहले देखी, सुनी

इत्यादि घटना का स्मरण हो आता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे चित्त में जिन वासना, कामना, भावना और चिन्तन आदि मनोवृत्तियों का अनुभव होता है उनका संस्कार भी इसी प्रकार संचित रहता है और उपयुक्त कारण उपस्थित होने पर उनकी भी स्मृति उद्‌बुद्ध हो जाती है। यह तो सभी के लिये प्रत्यक्षसिद्ध नित्य का मामला है। किंतु इसके साथ ही हमें देखना होगा कि न केवल मन, मस्तिष्क अथवा इंद्रिय में ही तत्तत्संसृष्ट विषय का संस्कार एकत्र रहता है, बल्कि जिन्हें हम प्राणहीन या जड़ पदार्थ कहते हैं उनमें भी ऐसा संस्कार रक्षित रहता है। इसी लिये वैज्ञानिक-प्रवर डाक्टर ड्रेपर ने अपने सुविख्यात 'धर्म और विज्ञान का द्वंद्व' नामक ग्रंथ* में एक स्थान पर लिखा है—'दीवाल पर किसी दिन ऐसी कोई छाया ही नहीं पड़ी—जिसका संस्कार सदा के लिये (Permanent trace) उस दीवाल पर रक्षित नहीं है। उपयुक्त उपाय का अवलंबन करने से इन सूक्ष्म संस्कारों को सब लोग देख सकते हैं।' इस बात को प्रतिपादन करने के लिये डाक्टर ड्रेपर ने एक सरल परीक्षा का उल्लेख किया है। एक नए छुरे की धार पर यदि थोड़ी सी रूई (wafer) रखकर उस पर फूँक मारी जाय तो उस रूई की मूर्ति का संस्कार उस छुरे पर मुद्रित हो जाता है। इसका प्रमाण यह

---

* Dr. Draper's Conflict between Religion and Science (International Science series).

इस ग्रंथ के १७० संस्करण हो चुके हैं।

है कि रूई को उठाकर थोड़ो देर बाद उस छुरे पर दुबारा फूँक मारने से उस रूई की सूरत साफ देख पड़ती है। ऐसा भी देखा गया है कि यदि छुरे को सावधानी से रखा जाय, जिसमें उस पर मोर्चा न लगने पावे, तो कई महीने बीत जाने पर भी उस छुरे पर फूँक मारने से उस रूई की सूरत का दुबारा उद्धार किया जा सकता है। इसी लिये डाक्टर ड्रेपर कहते हैं—'दुनिया की आँखों की ओट में, अपने सुगुप्त मन्त्रणागृह में, हम जिस जिस कर्म का अनुष्ठान करते हैं, जिस जिस वाक्य का उच्चारण करते हैं उस सबका संस्कार (traces वा vestiges) उसी प्रकोष्ठ की दीवार में मुद्रित हो जाता है।' कुछ समय हुआ, आचार्य जगदीशचन्द्र वसु ने स्मृति के चित्र (Memory Image) के सम्बन्ध में एक अद्भुत वक्तृता दो थी। उसमें उन्होंने परीक्षा के द्वारा यह प्रतिपादित किया था कि न केवल प्राणियों के स्नायुओं और पेशियों में ऐसे संस्कार संचित रहते हैं, बल्कि उद्भिद् और धातव पदार्थ तक संस्कार-विहीन नहीं हैं और उपयुक्त उपाय करने पर उन संस्कारों को उद्‌बुद्ध किया जा सकता है। यही औद्भिद् अथवा धातव स्मृति (Memory) है।

कई वर्ष से यूरोप और अमेरिका में साइकोमेट्री (Psychometry) नामक एक नई विद्या की आलोचना हो रही है। साइकोमेट्री का अर्थ है वस्तु में रक्षित संस्कार का ध्यानलब्ध उद्‌बोधन (Recovery of memory pictures from

objects)। ऊपर जिन संस्कारों का उल्लेख किया गया है उन्हीं वस्तुनिबद्ध संस्कारों (traces वा vestiges) के उद्बोधन पर ही यह साइकोमेट्री (Psychometry) विद्या प्रतिष्ठित है।

पाश्चात्य देश में अध्यापक बुकानन (J. R. Buchanan) ने ही पहले पहल इस विद्या का प्रचार किया था। उन्होंने सन् १८४१ ईसवी में कई एक परीक्षाओं के द्वारा प्रतिपादन किया था कि किसी किसी मनुष्य में ऐसी शक्ति रहती है कि वह वस्तु में रक्षित उन संस्कारों को प्रत्यक्ष देख सकता है। उन्होंने उक्त शक्ति का नाम साइकोमेट्री* रखा। जिस व्यक्ति में उक्त शक्ति हो वह यदि हमारे बालों का गुच्छा पा जाय अथवा हमारी पहनी हुई अँगूठी, घड़ी, चश्मा आदि कोई वस्तु पा जाय तो उस चीज, या बालों को उसकी भौंहों के बीच में अथवा ब्रह्मरंध्र के ऊपर स्थापित करने से उसे हमारी सूरत-शकल देख पड़ेगी; और वस्तु के समीप यदि हमने कोई वक्तृता दी होगी या बातचीत की होगी तो वह उन वाक्यों अथवा बातचीत को

* The faculty is called by its discoverer, Professor B. Buchanan—Psychometry. To him the world is indebted for this most important addition to the Psychological sciences; and to him, perhaps, when scepticism is found felled to the ground by accumulation of facts, posterity will have to erect a statue. The existence of this faculty was first experimentally demonstrated in 1841. It has since been verified by a thousand Psychometers in different parts of the world.—Isis Unveiled, vol. I, p. 182.

सुन लेगा। इसका मूलकारण क्या है? मूलकारण यही है कि प्रत्येक वस्तु अपने समीप की घटना के संस्कार की रक्षा करने में समर्थ है*। दर्पण में हमारा जो प्रतिबिंब पड़ता है वह प्रतिबिंब उसमें संस्कार रूप से सदा अंकित रहता है। हमारे केश अथवा हमारी अँगूठी जब हमारे पास है तब ये चीजें, कैमरे में स्थित प्लेट की तरह, हर घड़ी हमारा फोटोग्राफ ले रही हैं और हमारी बातचीत अथवा हमारे उच्चारण किए हुए शब्दों की रक्षा उल्लिखित वस्तुएँ उसी तरह करती हैं जिस तरह फोनोग्राफ यंत्र करता है। केशों और अँगूठी के संबंध में जो कुछ कहा गया है वही बात प्रत्येक भौतिक अथवा जीव संबंधी पदार्थ के विषय में कही जा सकती है; अर्थात

---

* अध्यापक हिचकाक ने इस संबंध में कुछ बातें कही हैं जो हमारे ध्यान देने योग्य हैं,—

"It seems" says Professor Hitchcock, speaking of the influences of light upon bodies and of the formation of pictures upon them by means of it, "that this photographic influence pervades all nature; nor can we say where it stops. We do not know, but it may imprint upon the world around us our features, as they are modified by various passions, and thus fill nature with daguerreotype impressions of all our actions ...it may be, too, that there are tests by which nature, more skilful than any photographist, can bring out and fix these portraits, so that acuter senses than ours shall see them as on a great canvas, spread over the material universe. Perhaps, too, they may never fade from that canvas but become specimens in the great picture gallery of eternity."—Psychometry and Thought Transference by N. C. F. T. S., p. 7.

पृथिवी की प्रत्येक वस्तु ही फोटोग्राफ और फोनोग्राफ है। इसका मतलब यह है कि प्रत्येक वस्तु ही अपने समीप की घटना का प्रतिबिंब ग्रहण कर सकती है और उसकी मूर्ति और ध्वनि की प्रतिकृति (picture) की रचना करने में कुशल है। फोटोग्राफ और फोनोग्राफ में रचित प्रतिकृति का पुनरुद्धार (reproduction) जिस प्रकार वैज्ञानिक उपाय से साधित होता है उसी प्रकार साइकोमेट्री-शक्ति-संपन्न व्यक्ति उक्त शक्ति के बल से वस्तु-निबद्ध मूर्ति या ध्वनि की संस्काररूपी प्रतिकृति का उद्बोधन करके उसको प्रत्यक्ष कर ले सकता है। इस संबंध में महाज्ञानी सर ऑलिवर लॉज की उक्ति पहले उद्धृत की जा चुकी है—'पार्थिव वस्तु में घटना का जो संस्कार निहित रहता है उसका साक्षात्कार दिव्य दृष्टि द्वारा हो सकता है। जिनकी इंद्रियों की शक्ति प्रखर है ऐसे व्यक्ति उक्त संस्कारों को उद्बुद्ध करके उन सब घटनाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।'

इस साइकोमेट्री शक्ति के दो-एक उदाहरण देने से विषय साफ हो जायगा। एक बार एक पर्यटक मिस्र देश की शवदेह 'ममी' से कपड़े का एक टुकड़ा ले गया। उसने कागज में लपेटकर इस कपड़े के टुकड़े को साइकोमेट्री शक्ति-वाले एक मित्र को दिया। उक्त मित्र को पता न था कि कागज के भीतर क्या वस्तु है; उसने जब उसे अपने माथे पर रखा तब मिस्र देश का चित्र उसकी दृष्टि के सामने आ गया।

उसने देखा कि एक प्राचीन नगर है। उस नगर के किनारे एक नदी बह रही है। उस नदी में एक व्यक्ति नाव पर बैठा जा रहा है। कुछ देर में नाव को किनारे लगाकर वह व्यक्ति एक वन में गया और एक आइबिस (ibis) पक्षी का शिकार करके वह नगर में लौट आया। जिस मुर्दे पर से यह कपड़े का टुकड़ा लिया गया था उस मुर्दे की छाती पर एक ऐसा ही आइबिस पक्षी रखा हुआ था। अतएव स्पष्ट हो गया कि उक्त कपड़े का टुकड़ा आइबिस पक्षी और उस पक्षी के स्वामी की प्रतिकृति को कम से कम दो-तीन हजार वर्ष से रक्षा करता आ रहा था और इतने दिनों के बाद साइकोमेट्री शक्ति के बल से एक व्यक्ति ने उसका उद्धार कर दिया* ।

साइकोमेट्री शक्ति के बल से, जड़ वस्तु में सन्निबद्ध संस्कार के उद्बोधन होने का एक और दृष्टांत हम लेडबीटर साहब

* I received from a friend in the year 1882 a piece of the linen wrapping of an Egyptian. It was found on the breast of a mummy. I handed it wrapped up in tissue paper to a friend who did not know what, if any thing, was in the paper. He put it to his forehead and soon began to describe Egyptian scenery; then an ancient city; from that he went on to describe a man in Egyptian clothes sailing on a river; then this man went ashore into a grove where he killed a bird; then that the bird looked like pictures of the ibis, and ended by describing the man as returning with the bird to the city, the description of which tallies with the pictures and descriptions of ancient Egyptian cities.—Quoted from an article on Psychometry by W. Q. Judge in the Platonist.

के "दिव्य दृष्टि" ग्रंथ से उद्धृत करते हैं। उन्होंने लिखा है—"एक बार स्टोनहेंज (Stonehenge) प्रस्तर-स्तूप से हम पत्थर का छोटा सा टुकड़ा उठा लाए। उसे लिफाफे में भरकर एक ऐसी स्त्री के हाथ में दे दिया जिसमें साइकोमेट्री शक्ति थी। उसे पता न था कि लिफाफे के भीतर क्या रखा हुआ है। किंतु थोड़ी ही देर में वह स्टोनहेंज स्तूप का और उसके समीपवर्ती प्रदेश का ठीक ठीक वर्णन करने लगी। वह उन घटनाओं का भी वर्णन करने लगी जो उक्त स्तूप के समीप पुराने जमाने में हुई थीं। इससे सिद्ध होता है कि उस छोटे से पत्थर के टुकड़े की सहायता से उस स्त्री ने उक्त पत्थर से जिन कामों का संसर्ग था उन सबको मानस दृष्टि से देख लिया*।"

साइकोमेट्री शक्ति के बल से न केवल अतीत घटनाएँ ही देखी जा सकती हैं, बल्कि अतीत वाणी और बातचीत भी सुनी जा सकती है। कई वर्ष पहले 'थियासफिस्ट' पत्र में ऐसा एक विवरण प्रकाशित हुआ था। सिसिली द्वीप में टावर मिना नाम

---

* For example, I once brought from Stonehenge a tiny fragment of stone, not larger than a pin's head, and on putting this into an envelope and handing it to a psychometer, who had no idea what it was, she at once began to describe that wonderful ruin, and the desolate country surrounding it, and then went on to picture vividly what were evidently scenes from its early history, showing that that infinitesimal fragment had been sufficient to put her into communication with the records connected with the spot from which it came.—C. W. Leadbeater's Clairvoyance, p. 103.

का एक गाँव है। वहाँ पर यूनानी गुरु पाइथागोरस के स्थापित किए हुए अध्यात्म-आश्रम का प्रस्तर-भग्नावशेष अब तक वर्त-मान है। उक्त आश्रम की अँगनाई में यूनानी गुरु अपने शिष्यों को जो अमूल्य उपदेश दिया करते थे उन उपदेशों की प्रति-ध्वनि को, कोई १५ वर्ष पहले, साइकोमेट्री शक्तिशाली किसी व्यक्ति ने प्रस्तरस्तूप में निहित संस्कार की सहायता से उद्धार करके थियासफिस्ट' पत्र में प्रकाशित कराया था। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के जीवन की इसी ढँग की एक घटना उनके एक शिष्य द्वारा संकलित 'सद्गुरु-प्रसंग' में निबद्ध है। गोसाईं जी एक बार शांतिपुर के समीप ही अवस्थित अद्वैत प्रभु का टूटा-फूटा घर देखने गए। वहाँ पर उन्हें सङ्कीर्तन की स्पष्ट ध्वनि सुन पड़ी। सब लोगों ने सोचा कि कोई संकीर्तन का दल आ रहा है, किंतु उसका कोई चिह्न न देख पड़ा। यह भी वही साइकोमेट्री थी। अद्वैत प्रभु के समय में हुए संकीर्तन का जो संस्कार ईंटों के ढेर में छिपा हुआ था वह उद्बुद्ध होकर गोसाईं जी के कर्णगोचर हो गया।

इस साइकोमेट्री के मामले को समझ लेने पर जाति-स्मर बनने की प्रणाली समझी जा सकती है। अब पतंजलि के सूत्र का एक बार स्मरण कीजिए। "संस्कार-साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्", 'संस्कार से भेट हो जाने पर पिछले जन्म का ज्ञान हो जाता है।' यह संस्कार कारण-शरीर में रक्षित पिछले जन्मों की अनुभूत भावना (thoughts), वासना

(desires), और चेष्टा (actions) का संस्कार है। जड़ वस्तु में जिस प्रकार उसके समीप की सारी घटनाओं का चित्र अंकित रहता है उसी प्रकार हमारे कारण-शरीर में हमारे, इस जन्म के और पिछले जन्म के, सारे संकल्पों और अनुष्ठानों की समस्त वासना, चेष्टा और चिंतन की प्रतिकृति संस्कार रूप में रक्षित रहती है। हममें से प्रत्येक ने अपने जन्म-जन्मांतर में जो कुछ सोचा-विचारा है, जो कुछ इच्छा की है और जो कुछ क्रिया का अनुष्ठान किया है उस सबका संस्कार हमारे इस कारण-शरीर में मौजूद है। यह कारण-शरीर कल्पांत-स्थायी है। १०० जन्म पहले हमारा जो कारण शरीर था वही कारण-शरीर हमारे इस जन्म में भी है। मरने पर हमारा यह स्थूल शरीर नष्ट हो जायगा, फिर कामलोक में रहने के बाद हमारे सूक्ष्म शरीर का भी ध्वंस हो जायगा; किंतु हमारे कारण-शरीर का विनाश नहीं है। जन्मांतर में जब हम चोला बदलेंगे तब हमारा सदा का साथी कारण-शरीर उस देह से संयुक्त हो जायगा और जब तक हम विदेह-मुक्ति पाकर शरीर को निर्मूल करके ब्रह्म के साथ एकाकार न हो जायँगे तब तक वह बना रहेगा। हिंदू दार्शनिक कहते हैं कि कारण-शरीर में ही प्रत्येक व्यक्ति के पिछले जन्मों के संस्कार रक्षित रहते हैं* और योगबल से उन संस्कारों का साक्षात्कार होते ही पूर्व-जन्म का स्मरण होता है।

* कोई कोई इन संस्कारों को कारण-शरीर में नहीं मानते; वे कहते हैं कि

साइकोमेट्री शक्ति के बल से ऐसा हो जाना कुछ विचित्र नहीं है। जब जड़ वस्तु में निहित संस्कार (impressions या vestiges) की सहायता से दिव्यदृष्टियुक्त व्यक्ति अतीत युग में हुई घटना के चित्र को प्रत्यक्ष देख सकते हैं तब योग-सिद्ध व्यक्ति योगबल से, कारण-शरीर में रक्षित संस्कारों को उद्बुद्ध करके, अपने अथवा दूसरे के पिछले जन्मों की घटनाओं से अवगत होकर जातिस्मर हो जायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अतएव जातिस्मर होना मिथ्या कल्पना नहीं है—यह सत्य और संभवनीय है। साधन-बल से सभी अपनी साइकोमेट्री शक्ति को प्रबुद्ध करके कारण-शरीर में निहित संस्कार को देख सकते और उसके फल से जातिस्मर होकर जन्मांतर का प्रत्यक्ष प्रमाण पा सकते हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यह साइकोमेट्री (Psychometry) जब दिव्य दृष्टि (clairvoyance) की सत्यता पर अवलंबित है तब यह निश्चय हो जाना चाहिए कि दिव्य दृष्टि सत्य और संभव है या नहीं। दिव्य दृष्टि के संबंध में विस्तृत आलोचना करने का यह स्थान नहीं है। हम यहाँ पर दिव्य दृष्टि की कुछ प्रामाणिक घटनाओं का उल्लेख किए देते हैं जिससे पाठक इसे असंभव बात न समझ बैठें।

हमारे जीवात्मा के साथ संबद्ध जो स्थायी अणुत्रय है उसी में ये सब संस्कार रक्षित रहते हैं। थियासफी के ग्रंथों में इस अणुत्रय को Permanent atoms कहते हैं। प्राचीन शास्त्र में इनका नाम भूत सूक्ष्म है।

कई वर्ष की बात है कि विलायत के "डेली मेल" पत्र में दिव्य दृष्टि की एक अद्‌भुत घटना का ब्योरा प्रकाशित हुआ था। उसका खुलासा इस प्रकार है—जापान के ओकायामा नगर में एक सोलह साल के लड़के ने दिव्य दृष्टि के बल से परीक्षा के सभी प्रश्न-पत्रों को पहले से ही मालूम करके अपने सहपाठियों को बतला दिया था। इससे उसने और उसके साथियों ने प्रश्न-पत्रों का उत्तर पहले से ही कंठस्थ कर लिया और परीक्षा के पूरे-पूरे नंबर प्राप्त कर लिए*। विधाता की कृपा से यदि इस शक्ति का संचार छात्रों में हो जाय तो आधुनिक परीक्षा-विभीषिका दूर हो जाय। यह आकस्मिक और स्वाभाविक दिव्य दृष्टि थी। क्योंकि जहाँ तक मालूम हुआ है, इस छात्र को किसी प्रकार की साधना के बल से अथवा किसी व्याधि के फल से यह दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी। संभवतः यह दृष्टि उसे जन्म से भी प्राप्त नहीं थी और बहुत दिनों तक टिकेगी भी नहीं। किंतु समय समय पर यह भी देखा गया है कि हिस्टीरिया के रोगी को सामयिक भाव से ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त

---

* A new problem for school-masters is reported from Okayama, where a boy named Kawasaki aged 16, has developed gifts of clairvoyance which are declared to render examinations futile. Recently he forecasted accurately all the questions set in several examinations with the result (says the Japan Times) that his class-mates all scored full marks by learning the answers to these questions by heart and neglecting any other preparation.—The Daily Mail of 20th January, 1911.

हो जाती है। सोलियर (Sollier) और कोमर (Comar) नामक दो डाक्टर हिस्टीरिया रोग के विशिषज्ञ थे। उन्होंने कई वर्ष पहले जिन रोगिणियों की चिकित्सा की थी उनमें इस शक्ति का परिचय पाया था। हिस्टीरिया रोग के दौरे के समय इन बीमार औरतों ने अपने देहयंत्र के भीतरी मामले को (जैसे हृत्पिंड का स्पंदन, फेफड़ों का चलन और रक्ताभिसरण आदि) देखकर ठीक ठीक वर्णन कर दिया था और मजा यह कि देह-विज्ञान का उन्हें रत्ती भर भी ज्ञान न था। उक्त डाक्टरों ने उस शक्ति का नाम रखा था—आंतरिक आत्मदर्शन (internal autoscopy)। 'अपेंडिसाइटिस' (Appendicitis) रोग का दौरा होने पर जाँच करके रोगिणी ने डाक्टर को बतला दिया कि हमारी नाड़ी की मध्यस्थ अमुक क्षुद्र हड्डी में उस व्याधि का केंद्र है। देह यदि आत्मा हो तब तो यही वास्तविक आत्मदर्शन है। किंतु विशेषज्ञ लोग अपनी इस नवाविष्कृत शक्ति का कुछ भी नाम क्यों न रखा करें, यह हमारी उसी सुपरिचित दिव्य-दृष्टि (clairvoyance) के सिवा और कुछ नहीं है*।

---

* Doctors Sollier and Comar, both specialists in the study of hystersia state that they have discovered the existence of a new and remarkable sort of power of second sight in certain patients. Instances of the form of vision in which the seer perceives at dusk under certain conditions, his own double are well-known to the scientific investigator as well as to the romance-writer. This kind of vision has been named "External autoscopy" and is supposed to be due to a peculiar development of the physical sense of the ego or the physical

कोई यह न समझ बैठे कि केवल हिस्टीरिया रोग की दशा में ही दिव्य दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। वास्तव में अनेक स्थलों पर तो यह योग-साधना द्वारा प्राप्त होती है। फिर अनेक स्थानों पर किसी किसी में यह प्रच्छन्न दिव्य दृष्टि शक्ति 'हिप्नटिक' निद्रावस्था में प्रकटित होते देखी गई है। हम यह नहीं कहते कि चाहे जिसको हिप्नटाईज (hypnotise) करने से यह शक्ति प्रकट हो जायगी। हमारा कहना इतना ही है कि

---

consciousness of self. The new phenomenon just discovered is "Internal autoscopy". Certain female patients, observed by the two doctors, have been found to possess, when in an hypnotic trance what appears to be the extraordinary power of seeing inside their own bodies. This is introspection in literal sense. Uneducated women, knowing nothing of anatomy, have described, for instance, in their own language, using no scientific terms, the exact process of the circulation of the blood in their own bodies. As they talked they seemed to be following with the mind's eye the pulsations of the heart, the working of the valves, the arteries and the veins, picturing the whole morphology of the circulation with extraordinary accuracy, though in their own popular parlance. The most remarkable case observed was that of a woman who being taken with the first symptoms of appendicitis and afterwards put in trance, gave a detailed description of the internal effects of the malady, and said notably that she saw a small piece of bone which was causing her sufferings Eventually, it was found by the doctor, when the woman had recovered, that the appendicitis was precisely due to the presence of a piece of bone exactly tallying with the description given by the patient. This was introspection with a vengeance.

ऐसे नर-नारी देखे गए हैं जिनमें जाग्रत् अवस्था में तो दिव्य दृष्टि का कोई लक्षण नहीं देख पड़ता; किंतु उन्हें 'हिप्नटिक' निद्रा में सुलाते ही यह शक्ति प्रकाशित हो जाती है। कुछ समय पहले 'नार्थ अमेरिकन रिव्यू' नाम की सामयिक पत्रिका में डाक्टर क्वेकोन्बास (John C. Quackuenbos, M. D) ने दिव्य दृष्टि के संबंध में अपनी अभिज्ञता से प्राप्त ऐसी ही कुछ घटनाओं का उल्लेख किया था। यहाँ, टिप्पणी में, हम डाक्टर साहब के लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं*। प्रबंध-लेखक का कहना है—'बोस्टन नगर के एक डाक्टर अध्यापक अपने बारह वर्ष के बेटे को समय समय पर 'हिप्नटाईज' किया करते थे। उस दशा में बालक में अद्भुत दिव्य दृष्टि प्रकट होती थी। वह शरीर के भीतर के अंग प्रत्यंगों को अपनी आँखों देखता था। कई बार तो इस बालक ने बतला

---

* The twelve-year-old son of Dr. F. N Brett, lately Prof. of Bacteriology in the college of Physicians and Surgeons at Boston, was gifted with X-ray vision, so that, when hypnotised by his father, he could "look right into and through the human body" seeing the internal organs as readily as one would see objects through a window. In dozens of instances this boy located tumours, foreign bodies, bullets in gunshot wounds, valvular lesions and so forth. But Leon Brett was always approximated to the patient. It was X-ray vision at short range.

X-ray vision at long range was afforded by a woman who, under hypnotism, described a patient five miles away, diagnosing his disease correctly and sometimes better than the surgeon.

दिया था कि उसके समीपस्थ व्यक्ति के शरीर के भीतर फोड़ा, व्रण इत्यादि ठीक अमुक स्थान पर है।'

एक्स-किरण (X-ray) की सहायता से जिस प्रकार मांस का आवरण काँच की तरह स्वच्छ हो जाता और उस आवरण को पार करके भीतर की वस्तुएँ साफ़ देख पड़ती हैं उसी तरह, डाक्टर साहब की राय में, एक प्रकार की एक्स-किरण दिव्य दृष्टि भी है। इस किरण की सहायता से उल्लिखित बालक समीप की वस्तुओं को देख लेता था। डाक्टर साहब ने इस निबंध में एक ऐसी स्त्री का उल्लेख किया है जिसने, हिप्नाटिक दशा में, पाँच मील दूर के रोगी के रोग का निर्णय (दिव्य दृष्टि के बल से) ठीक ठीक कर दिया था। किंतु सहज अवस्था में उसमें इस शक्ति का प्रकाश न होता था।

आज-कल डाक्टर रुडाल्फ टिसनर (Dr. Rudolph Tischner) ने एक स्त्री को 'मीडियम' बनाकर सहज अवस्था में कई एक परीक्षाएँ की हैं। इसका फल यहाँ पर टिप्पणी में उद्धृत किया जाता है*। पाठक देखेंगे कि इस मीडियम ने

* Dr. Tischner begins with his experiments with a Miss V. B., an unpaid medium, and the results, as he records them, are truly remarkable. The purpose of the experiments was to discover whether Miss V. B. could describe an object, to whose nature she had no clue, and which was quite invisible to her. The object was held by Dr. Tischner's friend, Dr. Wasielewski, and besides these two investigators and the medium there were no other people present. The conditions of the experiments, as described, seem to make fraud quite

अदृश्य और व्यवहित वस्तु को दिव्य दृष्टि द्वारा देखकर उसका ठीक ठीक वर्णन किया था;—यहाँ तक कि ऐसे मोटे लिफाफे के भीतर बंद पोस्टकार्ड की सतरों को ठीक ठीक नकल कर दी थी जिस पर सील-मुहर लगा दी गई थी। क्या अब भी दिव्य दृष्टि (clairvoyance) को असंभव बताकर दिल्लगी में उड़ा दिया जायगा ?

यह ठीक है कि यह अस्थायी दिव्य दृष्टि (clairvoyance) आकस्मिक थी। यह कभी रहती है, कभी नहीं रहती—अपनी

---

impossible. Nevertheless, in the great majority of cases, Miss V. B. succeeds in giving a very accurate description of the object. She appears to have received no hints of any kind.

A still more remarkable experiment is, when an old postcard is enclosed in black paper, such as is used for wrapping up photographic plates, placed in a thick envelope, and sealed. This packet was handed to Miss V. B , who was then left alone. But the door of the room was left ajar and, Dr. Tischner often looked in, without seeing anything suspicious. Finally, it was found that Miss V. B. had deciphered part of the post-card, the words she wrote down occupying the same relative positions as the words on the postcard. The illustrations, showing the original postcard and Miss V. B.'s copy, are certainly remarkable. So far as could be seen, the sealed envelope had not been tampered with. An interesting fact, ruling out the possibility of telepathy in this case, is that Dr. Tischner did not know the contents of the postcard. He chose it from a collection at random and put it into the envelope without looking at it As the case stands, therefore, this experiment furnishes really strong evidence for clairvoyance.

मौज से आ जाती है। किंतु साधन-बल से यह दिव्य दृष्टि, साधारण दृष्टि की भाँति, सहज और अनायास कर ली जा सकती है। उस दशा में साधक जाग्रत् अवस्था में ही दिव्य दृष्टि के बल से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं को देख सकता है। पतंजलि ने योगशास्त्र में इस शक्ति को योग की एक विभूति बतलाते हुए कहा है—'प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्' (विभूतिपाद)। अर्थात् साधन के बल से योगी को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा वह सूक्ष्म (यथा परमाणु प्रभृति, जो स्थूल दृष्टि से नहीं देखे जा सकते), व्यवहित (जिनमें व्यवधान हो, जैसे पत्थर के कोठे के भीतर रखी हुई चीज) और विप्रकृष्ट (दूर की, जैसे कलकत्ते में बैठे बैठे दिल्ली की) चीजों को देख सकता है। शास्त्र में ऐसे योगियों का उल्लेख है जो त्रिकालज्ञ थे और बहुत दूर की भी चीज को 'करकलित कुवलय' की तरह देख लेते थे। आजकल भी ऐसे योगी धरातल से उठ नहीं गए हैं। जिन्हें इन बातों के जानने की इच्छा होगी उन्हें ऐसे किसी न किसी योगी का परिचय मिल ही जायगा। सिर्फ इसी देश में नहीं, बल्कि पश्चिमी देशों में भी ऐसे योगी देखे जाते हैं। शायद बहुत लोगों ने स्वेडनबर्ग (Swedenborg) का नाम सुना होगा। उनकी जन्मभूमि स्टाकहोम नगर था। वे अनेक विद्याओं के विद्वान् थे और सहयोगी पंडितों में विख्यात दार्शनिक माने जाते थे। यहाँ पर एक उदाहरण दिया जाता

है जिससे ज्ञात होगा कि वे दिव्य दृष्टि की सहायता से दूर की घटनाओं को किस प्रकार देख लिया करते थे।

१७५९ ईसवी के सितंबर महीने के अंत में स्वेडनबर्ग इँगलैंड से लौटते समय दोपहर के बाद कोई ४ बजे गटेनबर्ग (Gottenburg) बंदर पर पहुँचे। उस दिन उनके एक मित्र के यहाँ भोज था। उसमें निमंत्रित होकर वे ६ बजे मित्र के घर गए। उनका चेहरा उतर गया और उस पर डर के लक्षण देख पड़ने लगे। मित्रों के पूछने पर उन्होंने बतलाया कि स्टाकहोम नगर में उनके घर के पास ही आग लगी हुई है और उनके घर की ओर फुर्ती से बढ़ती जा रही है। रात को ८ बजे तक वे बहुत ही चिंतित नजर आए। इस बीच वे कई बार बैठक से उठ-उठकर बाहर चले जाते थे। एक बार उन्होंने कहा कि अमुक मित्र का मकान जलकर स्वाहा हो गया। रात को आठ बजकर कुछ मिनट होने पर उन्होंने कहा—"भगवान् को धन्यवाद है। आग बुझ गई! हमारे घर और आग के बीच कुल दो मकानों का अंतर रह गया था।" इस घटना से गटेनबर्ग शहर में खासी चहल-पहल मच गई। शहर के गवर्नर ने दूसरे दिन सबेरे स्वेडनबर्ग को अपने यहाँ बुलाकर इस संबंध में पूछ-ताछ की। उन्होंने उक्त अग्निकांड का सविस्तर वर्णन गवर्नर को सुना दिया। उसके एक दिन बाद गवर्नर के पास स्टाकहोम से दूत आया जो अग्निकांड का ब्योरेवार वर्णन ले आया था। (कहने का प्रयोजन नहीं कि उस जमाने

में तार का आविष्कार न हुआ था।) उस विवरण के साथ स्वेडनबर्ग का पहले ही किया हुआ वर्णन पूरा-पूरा मिल गया। क्या इतने पर भी दिव्य दृष्टि की सत्यता के संबंध में संदेह टिक सकता है* ?

---

* It was on a Saturday towards the end of September, 1759, that Swedenborg returning from England landed at Gottenburg at about 4 in the afternoon. There was a party of 15 at William Bastel's to which he was invited. At 6 in the evening Swedenborg entered the salon pale and frightened. A fire had broken out, said he, that instant in Stockholm at the Sundersmalm and was violently spreading towards his house. He was very restless and went out several times. The house of one of his friends whom he named was already reduced to ashes and his own was in danger. After going out again at 8 he joyfully said—"Thank God the fire has been put out at the third door from mine!" This news created quite a sensation in the town and the Governor was informed of it the same evening. This functionary called the seer on Sunday morning and questioned him on the subject. He described exactly the beginning, the end and the duration of the fire. On Monday evening there arrived a courier from Stockholm, despatched by the trades people during the fire. These letters described the fire as was told by the seer. On Tuesday morning the royal messenger followed with a detailed report to the Governor which in no way differed from that of the seer. Who can plead against the authenticity of this event? Kant himself says he cannot object to the credibility of it.

दशम अध्याय

परीक्षाग्राह्य प्रत्यक्ष प्रमाण

पिछले अध्याय में हम वर्णन कर चुके हैं कि 'साइकोमेट्री' प्रणाली से दिव्य दृष्टि द्वारा कारण-शरीर में रक्षित संस्कार को देखकर मनुष्य किस प्रकार जातिस्मर हो सकता है। और जो मनुष्य 'जातिस्मर' हो सकता है उसके लिये जन्मांतर 'कर-कलित कुवलय' की तरह प्रत्यक्ष वस्तु है। किंतु अब यह आपत्ति होगी—'यद्यपि जातिस्मर होना सत्य है, फिर भी उसके लिये बहुत साधना होनी चाहिए। इतनी साधना करने के लिये हमारे पास समय नहीं है। साधारण मनुष्य, बिना कष्ट सहे, थोड़े से प्रयत्न द्वारा क्या जन्मांतर का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पा सकता? यदि पा सकता है तो ऐसा प्रमाण उपस्थित करो। हम चार्वाक के मुख्य शिष्य हैं—प्रत्यक्ष के सिवा और किसी प्रमाण पर विश्वास नहीं करते। अवश्य ही बहुत दूरी पर स्थित नक्षत्र इत्यादि देखने के लिये हम दूर-बीन यंत्र से काम लेते हैं और अत्यंत सूक्ष्म कोषाणु प्रभृति के देखने के लिये अनुवीक्षण यंत्र का भी उपयोग किया करते हैं; किंतु तुम जिस जन्मांतरतत्त्व का अनुमोदन करते हो उसे हम चर्मचक्षुओं से देखना चाहते हैं। अगर दिखला सको तो अच्छी बात है, नहीं तो हम उसे अप्रामाणिक समझकर उड़ा

देंगे।' बड़ी कठिन समस्या है! इस बार शंका करनेवाले ने जिस परिखा में प्रवेश किया है वहाँ से उसको किस प्रकार बाहर निकाला जाय ?

हर्ष की बात है कि आजकल के विख्यात फरासीसी मनस्तत्त्ववेत्ता लान्सेलिन् (Charles Lancelin) ने 'La Vie Posthume' (Life after Death) नाम से, इस संबंध में, एक विचित्र ग्रंथ प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ की सहायता से कदाचित् हम इस पिछली शंका का खंडन कर सकें।

इस ग्रंथ का थोड़ा सा इतिहास है। हम पहले उसी इतिहास को सुनावेंगे। शायद सभी पाठकों ने 'हिप्नटिज्म' (hypnotism) का नाम सुना होगा और कदाचित् कुछ लोगों ने इस क्रिया को अपनी आँखों देख भी लिया होगा। जब पाश्चात्य देश जड़वाद में डूबने को हो रहा है तब कई एक दुःसाहसिक डाक्टर, व्यंग्य और हँसी की परवा न करके, वैज्ञानिक प्रणाली से इस हिप्नटिज्म विद्या की छानबीन में प्रवृत्त हुए और उन्होंने बहुत सी परीक्षा-समीक्षा के बाद इसकी सत्यता प्रमाणित कर दी। अब वैज्ञानिक-समाज में हिप्नटिज्म को एक समादृत आसन मिल गया है।

हिप्नटिक जाँच-पड़ताल में देखा गया है कि किसी व्यक्ति को कृत्रिम उपाय से सुला दिया जाय तो उसका मस्तिष्क यहाँ तक सो जाता है कि उसके शरीर पर अस्त्र चलाने से भी, अथवा उसकी हथेली पर जलता हुआ अंगारा रख देने

पर भी उसको कुछ अनुभव नहीं होता। और उस समय अनेक अवसरों पर उसकी इंद्रियों की शक्ति, स्मृति-शक्ति और बुद्धि-शक्ति सहज अवस्था की अपेक्षा बहुत ही तीव्र हो जाती है—उसकी संवित् की ज्योति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक उज्ज्वल हो जाती है*। जिसे स्वप्न-संचरण (Somnambulism) कहते हैं वही निसर्गजात स्वप्नावस्था इसका एक उदाहरण है। मायर (Mayer) साहब के Human Personality ग्रंथ में इस ढँग की बहुतेरी घटनाओं का संग्रह है जिनमें जाग्रत् अवस्था में बहुत बहुत चेष्टा करने पर भी जो व्यक्ति कुछ भी स्मरण करने में समर्थ नहीं हुआ, एक अंक का जोड़ भी नहीं कर सका उसी ने स्वप्न-संचार की दशा में बिना किसी कठिनाई के यह सब काम कर दिया। सहज अथवा कृत्रिम निद्रा में जब स्थूल देह आच्छन्न रहती है तब संवित् का उज्ज्वलन और स्मृति प्रभृति शक्तियों का प्रखरण प्रथम दृष्टि में विचित्र तो लग सकता है किंतु वास्तव में ऐसा होना ठीक और स्वाभाविक है। दिन के जन-कोलाहल में दूर से आ रही सीटी की आवाज धीमी पड़ जाती है, किंतु रात की निःस्तब्धता में वह आवाज बिलकुल साफ सुन पड़ती है।

किसी कारण से सही, यह तो निश्चित है कि हिप्नटिक अवस्था में स्मरणशक्ति बहुत ही तेज हो जाती है। इसी सूत्र

---

* Trance is often accompanied with exaltation of the senses, memory, intelligence, etc.—Theosophy and New Psychology.

के सहारे कर्नेल डी रोसा (Colonel de Rochas) ने सन् १९०५ ईसवी में एक अधेड़ स्त्री पर कई एक प्रयोग किए थे। उन्होंने उसे हिप्नटिक निद्रा में सुलाकर आज्ञा दी 'तुम अपनी स्मरणशक्ति को धीरे-धीरे पीछे हटा लो'; उसने यही किया। कुछ देर में उससे पूछा गया, 'अब तुम्हारी उम्र कितनी है ?' उसने कहा, 'अठारह वर्ष की'। फिर उसे धीरे-धीरे पीछे हटाकर दस वर्ष की उम्र में पहुँचाया गया। अध्यापक डो रोसा ने उससे पूछा, 'इस समय तुम कहाँ रहती हो ?' उसने उत्तर दिया, 'मार्सेल नगर में'। आठ वर्ष की उम्र में पहुँचने पर उसको उस समय के निवासस्थान तुर्की देश के बिरूट शहर की याद आई और जाग्रत् अवस्था में वह जिन तुर्की शब्दों को भूल गई थी उनका उच्चारण इस दशा में करने लगी। फिर चार वर्ष, दो वर्ष और एक वर्ष की अवस्था में पहुँचकर वह अंत में जन्मक्षण में पहुँच गई। उस अवस्था में कोई भी कार्य नहीं रह गया। रह गया केवल अहंता का ज्ञान*।

---

* I ask her how old she is; she replies 'eighteen years.' I tell her to return to the age of sixteen; she sees her present body transform itself accordingly; likewise for fourteen, twelve and ten years of age.

When she is ten years old, I ask her where she lives; she replies, "Marseilles", which was true and of which I was not aware.

At eight years of age she is at Bairut which is still true. She remembers the people who frequented her home. I ask her how "Bonjour" is said in Turkish;

जाग्रत् अवस्था में क्या किसी को सूतिकागार की दशा की याद रहती है ? किंतु यहाँ पर यह स्त्री हिप्नटिक निद्रा के बल से, स्मृतिमंदिर के, बंद एक एक दरवाजे को खोलती हुई अंत में सूतिकागार की शय्या पर पहुँची और उसके मन में शैशव की स्मृति जाग पड़ी।

सन् १९०९ ईसवी में अध्यापक डुरविल उस रास्ते पर कुछ और आगे बढ़े जिसको डी रोसा ने चलाया था। वे सिर्फ़ भांड देह (Physical Body) को ही हिप्नटाईज करके नहीं रह गए, बल्कि उन्होंने पिंडदेह (Etheric Body) को भी निद्रित कर दिया। इससे कई एक नई बातों का पता चला; किंतु यहाँ पर हमें उनका विचार नहीं करना है। इसके कई वर्ष पश्चात् अध्यापक लान्सेलिन इस क्षेत्र में उतरे और डी रोसा तथा डुरविल की परीक्षा के फल को याद रखकर बिलकुल नई परीक्षा करने लगे। कई साल तक वे यह काम करते रहे। उसी का फल इस La Vie Posthume ग्रंथ में निबद्ध है।

---

she replies "Salamalle" which she had forgotten in her waking state.

At four years old she is again at Marseilles.

At two years old she is at Cages in Provence (exact).

At one year old, she can no longer speak. She contents herself with looking at me and replying "yes" or "no" by nodding her head.

Further still into the past, "she" is nothing more "elle n'est plus rein". She feels that she exists, and that is all.—Colonel de Ro chas in the Annals of Psychical Science for July, 1905.

एक वाक्य में यों कह सकते हैं कि अध्यापक लान्सेलिन की अवलंबित प्रणाली का नाम 'स्मृति का प्रतिसरण' (Regression of Memory) है। वे कई व्यक्तियों को कृत्रिम निद्रा में सुलाकर उनकी स्मरणशक्ति को धीरे धीरे अतीत की ओर लगातार पीछे हटाने लगे (डी रोसा भी यही कराते थे)। उसके फल से उनकी स्मरणशक्ति अधेड़ से युवावस्था में, युवावस्था से कैशोर में, कैशोर से शैशव में और बचपन से सौरी में—प्रतिलोमक्रम से—पीछे पहुँच गई। कृत्रिम निद्रा (हिप्नटिज्म) द्वारा उनका स्थूल शरीर निद्राच्छन्न कर दिया गया था, इससे उनकी स्मरणशक्ति इस अवस्था में बहुत ही तीक्ष्ण हो गई थी; अतएव जाग्रत् अवस्था में जो पिछले विवरण उनके स्मृति-पट पर कभी उदित नहीं होते थे वही सब विवरण प्रकट हो गए*। बहुतों की स्मृति तो माता के पेट को लाँघकर उसके पीछे के जन्मों में नहीं जा सकी; किंतु किसी-किसी की स्मृतिशक्ति को इस जन्म को लाँघकर पिछले जन्मों में जाते देखा गया है। लान्सेलिन के ग्रंथ में ऐसी कई परीक्षाओं का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। हम यहाँ पर उसका संक्षिप्त परिचय देते हैं। इन परीक्षाओं के विषय का

---

* The hypnotised subject was taken back, step by step, to the early days of youth and childhood, through a most trying period within the darkness of the womb, and then through an intermediary life and still further back, through death, to a former physical existence. All the mediums appear to have suffered severely while retracing their experiences.

उल्लेख करके एक अभिज्ञ लेखक ने लिखा है कि इन परीक्षाओं की विशेषता और नवीनता यही है कि इनके द्वारा जन्मांतर-वाद अप्रत्याशित रूप से दृढ़ किया गया है* ।

अध्यापक लान्सेलिन ने जो जो परीक्षाएँ की थीं उनमें मिस जे नाम की एक स्त्री का वृत्तांत बहुत ही आश्चर्यकारक है। नीचे टिप्पणी में उस वृत्तांत को हम, अध्यापक की ही भाषा में, उद्धृत किए देते हैं† । पाठक देखेंगे कि मिस जे ने कृत्रिम निद्रित अवस्था में

---

* What gave these experiments such a new and important turn was the unexpected discovery of the truths of reincarnation.—I. H. Moll's Reincarnation proved by Hypnotic Research.

† Mme. J. was born in 1878 in the Isere. In her previous existence as Marguerite Duchesne, she was born in 1835. Replaced in her fifteenth year, she is living in Briancon (a place which, in her actual existence, she has never visited) and has just left the School belonging to the 'Dames de la Trinite', of whom she is very fond; she is asked to say where the School is situated, and responds: 'In the rue de la Gorgonille at Briancon. Later researches proved the fact that at that thim (about 1850) there was a School kept in that street by those ladies. In her fifth previous incarnation (Michel Berry, early 16th cent.) certain details given correspond perfectly both to the habits and customs of the epoch. In her 7th previous life (Sister Marthe, tenth century) she gives almost exactly the chronology of the Kings of France and leads up to the year 1000, partakes of the terror then reigning of the near approach of the end of the world, terror, which, at our epoch no longer remembered except by those persons w have made deep researches into historical studies.

सिलसिलेवार सात जन्मों का विवरण दिया था। पीछे जाँच करने पर ये विवरण ठीक पाए गए। उन्होंने ठीक ठीक बतला दिया था कि वे किस जन्म में कहाँ पैदा हुई थीं, किस स्कूल में भर्ती हुई थीं, उस समय कौन से राजा-रानी थे और साधारणतः देश की सामाजिक और राजनीतिक दशा कैसी थी। इस जन्म में उन विवरणों का हाल जानने का कोई अवसर अथवा सुभीता उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था; और जब सत्य घटना के साथ उनका मेल मिलता है तब उन्हें काल्पनिक कहने के लिये गुंजाइश ही कहाँ है ?

जोसेफाइन नाम की एक १७ वर्ष की नौकरनी का वृत्तांत भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। उसे अपने पिछले दो जन्मों का स्मरण हो आया था। इन दो जन्मों में वह कहाँ पैदा हुई थी, पुरुष थी या स्त्री, और उसके जीवन में कौन कौन सी घटनाएँ हुई थीं—इसका विवरण इस अशिक्षित नौकरनी ने जो किया था वह, पता लगाने पर, बिलकुल अप्रकृत नहीं प्रमाणित हुआ* ।

---

* Another case cited is that of Josephine, a servant girl aged 17, who after being replaced into a previous life declared she was Joseph Bourden, who did his military service at Besancon in the 7th Artillery, and that the grand military revue was held on May 1st. Subsequent enquiries proved that the 7th Artillery were garrisoning Besancon between 1832 and 1837, that at that time the revue was held on May 1st, and not on July 17th as now. In an incarnation preceding that,

अध्यापक लानूसेलिन ने एक और पुनर्जन्म का उल्लेख किया है। एक बच्चा पाँच वर्ष की उम्र में मर गया। उसकी अकाल-मृत्यु से उसकी माता शोक के मारे बेचैन हो गई। उस बच्चे ने माता को सपने में दर्शन देकर कहा था कि मैं और एक मेरी मौसी (जो तेरह वर्ष की उम्र में मर चुकी थी) दोनों ही यमज रूप में शीघ्र ही पैदा होंगे। उसकी माँ को पहले इस बात पर विश्वास नहीं हुआ; किंतु समय पूरा होने पर उसके जब यमज संतान उत्पन्न हुई तब उसका अविश्वास दूर हो गया*।

इस प्रकार अध्यापक लानूसेलिन ने अध्यवसाय के फल से अनुसंधान और गवेषणा के लिये एक नई दिशा खोल दी है और जन्मांतर के पक्ष-समर्थन में अनायासलभ्य प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वसाधारण के लिये सुलभ हो गए हैं। इसलिये उक्त अध्यापक महोदय उन सबके धन्यवादपात्र हैं जो सत्य की खोज करना चाहते हैं।

---

she announced that her name was Philomene Charpigne, born at Ozan in 1702, and that she marries a man named Carteron at Chevneuz. It was later confirmed that families of those names were living in those towns.

* Towards the close of the book an authentic case is quoted of the rebirth of a child of 5 years old (announced by herself in dreams and seances, to her bereaved, inconsolable and disbelieving mother), together with a twin, the child's aunt, who had died at the age of 13. All the letters concerned with the verification of the case are fully given, with portraits of the children.

अब कदाचित् हम दावे के साथ कह सकते हैं कि जन्मांतर-वाद की सत्यता के संबंध में न केवल आगम अथवा आप्त वाक्य ही, न केवल युक्तियाँ अथवा तर्क अनुमान ही, बल्कि प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण भी पेश कर दिए गए हैं। इतने पर भी जो लोग जन्मांतर-वाद को मानने के लिये तैयार न हों उनसे हमें कुछ नहीं कहना है। जो जागते रहकर भी सोने का ढोंग किए पड़ा हो उसे जगाने की हिम्मत कौन कर सकता है ?

जन्मांतर के भेद और प्रणाली के संबंध में यद्यपि पिछले अध्यायों में हम प्रसंगानुसार थोड़ा बहुत उल्लेख कर चुके हैं तथापि विशेष रूप से उसकी आलोचना करने का अवसर नहीं मिला। हम अगले अध्याय में अब यही काम करेंगे।

एकादश अध्याय

जीव की उत्क्रांति और गतागति

अध्यापक फ्रेडरिक मायर अपने प्रख्यात Human personality ग्रंथ में बहुत अनुसंधान और आलोचना के बाद इस सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि जीव एक नहीं बल्कि तीन भूमिकाओं में विहार करता है। उनकी भाषा इस प्रकार है—

Man lives in three environments—the physical, the ethereal and the met-ethereal, that which is called the heaven world.

अर्थात् जीव स्थूल, सूक्ष्म और सुसूक्ष्म (जिसे स्वर्गलोक कहते हैं) इन तीन भूमियों में रहता है। यह मत भी इस देश के पुराने मत के अनुकूल है। ऋषियों की शिक्षा यह है कि जीव साधारणतः तीन लोकों—भूः, भुवः और स्वः—में रहता है। भूलोक हमारी यही पृथ्वी (Physical Plane) है। भुवर्लोक अंतरिक्ष को कहते हैं। मायर ने इसे Ethereal world कहा है—थियासफी के ग्रंथों में इसे Astral Plane कहा गया है। स्वर्लोक अथवा स्वर्ग को मायर साहब Met-ethereal कहते हैं। यही Heaven world, थियासफ़ी में वर्णित, Devachan अथवा Mental Plane है।

इन तीनों लोकों के अनुयायी जीव की तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था में

जीव इस स्थूल भूलोक (Physical Plane) के संस्रव में रहता है। तब वह स्थूल देह (Physical Body) का व्यवहार करता है और इस शरीर की सहायता से भूलोक के साथ संबंध जोड़ता है। इस स्थूल देह का वैदांतिक नाम अन्नमय कोष है। जीव अपनी स्वप्नावस्था में सूक्ष्म भुवर्लोक अथवा Astral Plane के संस्रव में पहुँचता है। इस सूक्ष्म लोक में संचार करने के लिये और उक्त लोक के साथ संबंध स्थापित करने के लिये स्थूल देह ही यथेष्ट नहीं है। उस लोक में उपयोग आने योग्य सूक्ष्म वाहन की आवश्यकता है। जीव के सूक्ष्म शरीर द्वारा वह प्रयोजन सिद्ध होता है। इस सूक्ष्म शरीर को Astral Body कहते हैं। इसका वैदांतिक नाम प्राणमय कोष है।

जाग्रत् और स्वप्न के बाद सुषुप्ति का नंबर है। जीव अपनी सुषुप्ति अवस्था में स्वर्लोक (Mental Plane) के संस्रव में पहुँचता है। इस लोक में संचार करने के लिये और उक्त लोक के साथ संबंध जोड़ने के लिये स्थूल देह और सूक्ष्म देह ही यथेष्ट नहीं है—उक्त लोक में काम आने योग्य वाहन की जरूरत रहती है। जीव के सुसूक्ष्म शरीर द्वारा यह काम सिद्ध होता है। इस सुसूक्ष्म शरीर को Mental Body कहते हैं--इसका वैदांतिक नाम मनोमय कोष है। प्रश्न होगा कि इसका क्या प्रमाण कि स्थूल देह के सिवा जीव के सूक्ष्म और सुसूक्ष्म शरीर भी होते हैं? उत्तर यह है कि

जो दिव्यदर्शी हैं, जिनकी दिव्य दृष्टि खुल गई है वे स्थूल देह के अतिरिक्त जीव के उक्त सूक्ष्म और सुसूक्ष्म शरीर को देख लेते हैं। कभी कभी मृत व्यक्ति की (जिसे हम प्रेत कहा करते हैं) वह प्रेतमूर्ति हमको देख पड़ती है। मृत व्यक्ति की स्थूल देह तो रहती नहीं है, अतएव हमें जो प्रेतमूर्ति देख पड़ती है वह अवश्य ही जीव का सूक्ष्म शरीर है। यह घटना बिलकुल ही विरल नहीं है कि कभी कभी कैमरे में प्रेतमूर्ति का फोटोग्राफ आ जाता है। हम यह भी जानते हैं कि वैज्ञानिक यंत्र की सहायता से कई एक वैज्ञानिकों ने जीवित मनुष्य की सूक्ष्म देह (Human Aura) के दर्शन किए हैं*। इन बातों की विस्तृत आलोचना करने का यह स्थान नहीं है†। यहाँ पर हमें यही देखना है कि जब जीव की जाग्रत् के सिवा स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ हैं और जब एक स्थूल भूलोक ही नहीं बल्कि सूक्ष्म भुवर्लोक और सुसूक्ष्म स्वर्लोक में उसे विचरण करना ही पड़ता है तब उसके स्थूल शरीर के सिवा सूक्ष्म और सुसूक्ष्म शरीर अवश्य ही हैं। जब हम स्थूल-मार्ग से आते जाते हैं तब हमारे लिये सवारी या तो गाड़ी

---

* इस प्रसंग में Human Aura and How to see it, by Dr. Kilner, M. D. देखनी चाहिए।

† १३२८ साल की 'ब्रह्म-विद्या' पत्रिका में लेखक ने जीव की विविध उपाधियों और कोषों के संबंध में विस्तृत आलोचना की है। जिन्हें इच्छा हो वे उसे देख सकते हैं।

होती है या रेलगाड़ी। और जल-मार्ग से जाने के लिये सवारी नाव अथवा जहाज है। किंतु आकाशमार्ग में विचरण करने के लिये बेलून या एरोप्लेन की आवश्यकता होती है। अतएव उपाधि-भेद से वाहन का प्रभेद होना अवश्यंभावी है।

भूः, भुवः और स्वः—इन तीनों लोकों का मिलित नाम 'त्रिलोकी' है। यह त्रैलोक्य ही साधारण जीव का लीला-क्षेत्र है। प्रतिदिन जाग्रत् अवस्था में जीव भूर्लोक में संचार किया करता है। निद्रावस्था में वह भुवर्लोक में और गहरी नींद में सोने पर स्वर्लोक में जाता है। इसी लिये मायर साहब कहते हैं—Man lives in three environments. यह जीव की प्रति दिन की घटना है। मृत्यु होने पर जब जीव की स्थूल देह नष्ट हो जाती है तब वह सूक्ष्म शरीर के सहारे पहले भुवर्लोक में जाता है। कर्म के अनुसार वहाँ उसके रहने के समय का परिमाण निर्दिष्ट रहता है। इस भुवर्लोक को पुस्तकों में कहीं कहीं पर 'कामलोक' कहा गया है। कामलोक में कुछ समय बीत जाने पर जब उसका सूक्ष्म शरीर नष्ट हो जाता है तब जीव सूक्ष्म देह का आश्रय लेकर स्वर्लोक में पहुँचता है। स्वर्गलोक में जीव सदा नहीं रह सकता*। पुण्य के क्षीण होते ही वह उक्त स्वर्गलोक से बाहर कर दिया जाता है।

---

* 'यावत् संपातं उषित्वा।'—छान्दोग्य उपनिषद्।

इस स्वर्गलोक (Mental Plane) के दो स्तर हैं। बौद्ध लोग स्वर्लोक के सूक्ष्मतर स्तर को अरूपभूमि (Arupa Level) और स्थूलतर स्तर को रूपभूमि (Rupa Level) कहते हैं। साधारणतः रूपभूमि में ही जीव का स्वर्ग-भोग होता है। भोग पूरा हो चुकने पर मनोमय कोष टूटते ही जीव, कारण-शरीर के सहारे, स्वर्लोक की अरूपभूमि में पहुँचाया जाता है। यही जीव का स्वधाम—उसका 'प्रत्न श्रोकः'—True Habitat है। इस स्वधाम में कुछ समय तक रह लेने पर उसके चित्त में फिर यात्रा करने की इच्छा प्रबल हो जाती है। बुद्धदेव ने इसको 'तण्हा' कहा है। इस तण्हा की ताड़ना से वह भूत-सूक्ष्म (Permanent Atoms) द्वारा संवेष्टित होकर स्वर्लोक की रूपभूमि को पार कर चुकने के बाद भुवर्लोक में होता हुआ उतरकर भूर्लोक में पहुँचता और जनक की देह में प्रवेश करता है। वहाँ से माता की कोख में निषिक्त होता और ठीक समय पर माता के पेट से जन्म लेता है। यही जीव का जन्मांतर है।

अन्य देह ग्रहण करने के विषय का उपदेश ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार है—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः—ब्रह्मसूत्र, ३ । १

इस पर यह शांकर भाष्य है—

तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैः भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छति इति अवगन्तव्यम् ।

अर्थात् दूसरा जन्म धारण करने के लिये जीव, देहबीज 'भूत-सूक्ष्मों' द्वारा परिष्वक्त (= संबद्ध) होकर, स्वर्गलोक से भुवर्लोक होता हुआ भूर्लोक में उतरता है। इससे यह सिद्धांत निकालना असंगत नहीं है कि जीव जब स्वर्गलोक की अरूप भूमिका से जन्मांतर ग्रहण करने के लिये उतरता है तब वह सूक्ष्म और सुसूक्ष्म देह द्वारा लिपटा हुआ नहीं रहता; बल्कि देहबीज भूत-सूक्ष्मों द्वारा ही परिष्वक्त रहता है। अगले सूत्र में बादरायण ने इन भूतसूक्ष्मों का कुछ परिचय दिया है—

त्र्यात्मिकत्वात् तु भूयस्त्वात्—३ । १ । २

त्र्यात्मकस्तु देहः त्रयाणामपि तेजोऽप् अन्नानां तस्मिन् कार्योपलब्धेः।

—शाङ्करभाष्य

भूत-सूक्ष्म क्या क्या हैं? भूत-सूक्ष्म हैं तेजः, अप्, अन्न अर्थात् भूतत्त्व, जलतत्त्व और अग्नितत्त्व से बने हुए तीन परमाणु। थियासफी के ग्रंथों में इन्हें Permanent Atoms कहते हैं।

द्वादश अध्याय

अनावृत्ति

हमको पिछले अध्याय में मालूम हो गया है कि जीव की तीन अवस्थाएँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति हैं। जाग्रत् अवस्था में जीव अन्नमय कोष के वाहन द्वारा भूलोक में विचरता है; स्वप्नावस्था में प्राणमय कोष की सवारी से भुवर्लोक में विचरण करता है और सुषुप्ति अवस्था में वह मनोमय कोष की सवारी से स्वर्गलोक के निम्न स्तर अथवा रूपभूमि में विहार करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि स्वर्गलोक का उच्च स्तर अथवा अरूप भूमि ही जीव का स्वधाम (उसकी True Habitat) है; और स्वर्ग-भोग पूरा हो जाने पर दूसरा जन्म ग्रहण करने के लिये वह भूर्लोक में उतरने से पहले विज्ञानमय कोष की सवारी से (इस कोष का अँगरेजी नाम Casual Body है) स्वर्लोक के अरूप स्तर में पहुँचाया जाकर कुछ समय तक वहां रहता है। यह तो हुई साधारण जीव की बात; किंतु जो असाधारण जीव हैं, जो योगी; साधक, भक्त या ध्यानी हैं—उनकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के सिवा दो अवस्थाएँ और हैं। वे हैं तुरीय और तुरीयातीत अथवा निर्वाण। इन दोनों अवस्थाओं में जीव किस कोष से काम लेता और किस लोक के संस्रव में पहुँचता है?

वेद में लिखा है, पहले 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'— तमस् के द्वारा तम ढका हुआ था। यह तमः ही निर्विशेष कारणार्णव—ऋग्वेद का 'अप्रकेत सलिल'—है। महेश्वर को 'सिसृक्षा' हुई और वह अव्याकृत एकाकार कारण-वारि व्याकृत होकर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इस पंचतत्त्व के रूप में सज्जित हो गया।

तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।—तैत्तिरीय उपनिषद्, २।१।१

यह तत्त्वसृष्टि हो चुकने पर महेश्वर ने लोक-सृष्टि का संकल्प किया।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।—ऐतरेय, १।२

किस किस लोक को उत्पन्न किया ?

स इमान् लोकान् असृजत—अम्भो मरीचीः मरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवम्। द्यौः प्रतिष्ठा अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात् ता आपः।—ऐत०, १।२

'अधस्तात् आपः'—यह अप् हमारा पूर्वोल्लिखित कारणार्णव समस्त लोकों का निर्विशेष उपादान मूल-प्रकृति है। उससे निर्मित नीचे मर या पृथिवी (हमारा परिचित भूर्लोक अथवा Physical Plane) है, बीच में मरीचि अथवा अंतरिक्ष (हमारा परिचित भुवर्लोक अथवा Astral Plane) है, ऊपर द्यौः या दिव (हमारा परिचित स्वर्लोक या Mental Plane)

और उसके बाद अंतः है। यह अंतःलोक कहाँ है? परेण दिवं अर्थात् भूः भुवः स्वः इस त्रिलोकी के ऊपर जो लोक है उसका साधारण नाम अंतः है। इस अंतःलोक के साथ साधारण जीव का संबंध न रहने पर भी असाधारण जीव का तो वही विकाशक्षेत्र है*।

प्राचीन वैदिक ग्रंथ में सात लोकों का उल्लेख पाया जाता है—

ॐ गायत्रीमावाहयामि इति।

ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः। ॐ महः। ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम्।—तैत्ति० आरण्यक, १०।२७

अर्थात्, गायत्री का आवाहन करता हूँ—

ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम्।

भूः, भुवः, स्वः—इन तीनों लोकों की निम्न त्रिलोकी और जनः, तपः, सत्यम् की ऊर्द्ध्व त्रिलोकी है। निम्नतर त्रिलोकी और ऊर्द्ध्वतर त्रिलोकी के बीच में महर्लोक है। जनः, तपः और सत्य—इस ऊर्द्ध्वतर त्रिलोकी का साधारण नाम ब्रह्मलोक अथवा प्रजापतिलोक है।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।

---

* इसी से श्रीमती एनी बेसेंट ने एक स्थान पर कहा है कि पहली दीक्षा हो चुकने पर साधक का विकाश क्षेत्र वही उर्द्ध्वलोक है (where proceeds the specific evolution of the Initiate after the first of the great initiations).

योगसूत्र के व्यासभाष्य में जो यह श्लोक है इससे हमको पता चलता है कि महर्लोक के ऊपर जो त्रिभूमिक (three-levelled) लोक है उसका नाम ब्रह्मलोक या प्रजापति-लोक है। यह भूमित्रय हमारे परिचित जनः, तपः और सत्यलोक हैं। ऐतरेय उपनिषद् में जिस 'अंत' का उल्लेख है उसके अंतर्गत ब्रह्मलोक और महर्लोक है।

थियासफी की पुस्तकों में पाँच लोकों (Five Planes) का उल्लेख है—भूर्लोक (Physical Plane), भुवर्लोक (Astral Plane), स्वर्लोक (Mental Plane) और उक्त महर्लोक (Buddhic Plane) एवं उक्त ब्रह्मलोक (Nirvanic Plane.)।

हमको मालूम हो गया है कि जाग्रत् अवस्था में जीव का लीलाक्षेत्र यह भूर्लोक है, स्वप्नावस्था में उसका लीला-क्षेत्र भुवर्लोक और सुषुप्ति अवस्था में उसका लीलाक्षेत्र स्वर्लोक है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के सिवा उन्नत जीव की दो उच्चतर अवस्थाएँ (तुरीय और निर्वाण) हैं; उन अवस्थाओं में जीव किन लोकों में विचरता है? तुरीय अवस्था में जीव का लीलाक्षेत्र उक्त महर्लोक है; और निर्वाण अवस्था में उसका लीलाक्षेत्र उक्त ब्रह्मलोक है। अतएव हम देखते हैं कि जीव की पाँच अवस्थाओं के अनुयायी उक्त पंचलोक हैं। पहले भूर्लोक (Physical Plane) है। इस लोक का संगठन क्षितितत्त्व द्वारा हुआ है और इस लोक में विचरने के लिये उप-

युक्त क्षितितत्त्व से निर्मित जीव का अन्नमय कोष (Physical Body) है। भूर्लोक के बाद भुवर्लोक (Astral Plane) है। यह लोक जलतत्त्व द्वारा गठित है और इस लोक में संचार के लिये उपयोगी जलतत्त्व से निर्मित जीव का प्राणमय कोष (Astral Body) है। भुवर्लोक के बाद स्वर्लोक (Mental Plane) है। यह लोक अग्नितत्त्व द्वारा गठित है और जब इसके दो स्तर (रूपभूमि और अरूपभूमि) हैं। तब इन दोनों स्तरों में विचरने के उपयुक्त अग्नितत्त्व की रूपभूमि के स्थूलतर परमाणु द्वारा निर्मित जीव का मनोमय कोश (Mental Body) है और अग्नितत्त्व की अरूपभूमि के सूक्ष्मतर परमाणु द्वारा निर्मित विज्ञानमय कोश (Casual Body) है।

स्वर्लोक के बाद महर्लोक (Buddhic Plane) है। यह लोक वायुतत्त्व से गठित है और यहाँ के विचरण के लिये उपयुक्त वायुतत्त्व से निर्मित जीव का आनंदमय कोश (Buddhic or Bliss Body) है। जो साधक योगबल से तुरीय भूमिका में पहुँच गए हैं वे इस आनंदमय कोश की सहायता से महर्लोक के साथ संबंध स्थापित कर सकते हैं।

महर्लोक के ऊपर ब्रह्मलोक (Nirvanic Plane) है। यह लोक आकाशतत्त्व द्वारा गठित है और इस लोक में रहने के उपयुक्त आकाशतत्त्व से निर्मित जीव का हिरण्मय कोश (Nirvanic Body) है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

—मुण्डक, २ । २ । ६

साधक जब तुरीय भूमिका को पार करके निर्वाण भूमिका में पहुँचते हैं तब इस हिरण्मय कोश की सहायता से ब्रह्मलोक के साथ उनका संबंध स्थापित होता है।

हमने देख लिया है कि मृत्यु होने पर जब जीव की स्थूल देह (अन्नमय कोश) का नाश होता है तब वह सूक्ष्म देह के सहारे भुवर्लोक में रहने लगता है। इस लोक में कुछ समय तक रह लेने पर जब उसका प्राणमय कोश टूट जाता है तब वह सुसूक्ष्म देह (मनोमय और विज्ञानमय कोश) का अवलंबन करके स्वर्गलोक में रहने लगता है । पहले मनोमय कोश की सहायता से स्वर्गलोक की रूपभूमि में ठहरकर, मनोमय कोश टूटने पर, जीव स्वर्गलोक की अरूपभूमि में विज्ञानमय कोश के वाहन पर चढ़कर पहुँच जाता है । वहाँ पर भी जीव हमेशा नहीं रह सकता । पुण्य क्षीण होने पर जीव को तण्हा की ताड़ना से स्वर्गलोक छोड़ देना पड़ता है । अब वह भुवर्लोक के रास्ते फिर भूर्लोक में आ जाता है । इसे शास्त्र की भाषा में धूमयान अथवा कृष्णागति कहते हैं । इस गति के सिवा उन्नत जीव के लिये एक और गति है । उसका नाम शुक्ला गति या देवयान है । इसी लिये गीता में कहा गया है—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिं अन्ययावर्त्तते पुनः ॥—८,२६

अर्थात् जीव की यही दो गतियाँ हैं—कृष्णा गति अथवा धूमयान और शुक्ला गति अर्थात् देवयान। धूमयान से जीव की आवृत्ति होती है, किंतु देवयान से उसकी आवृत्ति नहीं होती।

साधारण जीवों का आवागमन धूमयान मार्ग से भूः, भुवः, स्वः तीनों लोकों में होकर होता है—इसका नाम आवृत्ति है। किंतु उन्नत साधक—असाधारण जीव—देहांत होने पर, इन तीनों लोकों के पार हो देवयान मार्ग द्वारा उच्चतर महः, जनः, तपः अथवा सत्यलोक में जाता है। वहाँ से फिर उसकी आवृत्ति नहीं होती।

गीता में इसी को लक्ष्य कर कहा गया है—

> अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
> तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥—८। २४

'अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में प्रयाण करने से ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।' इस संबंध में छांदोग्य उपनिषद् का विस्तृत उपदेश है—

> ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्नः आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङेति मासांस्तान्।
>
> मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषो ह मानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति।—छान्दोग्य ५। १०। १। २

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्नः आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते।—छान्दोग्य. ४।१५।५।६

'जो लोग वन में श्रद्धा रूप तपस्या का अनुष्ठान करते हैं उन्हें अर्चिः की प्राप्ति होती है; अर्चिः से दिन, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः महीने (जब सूर्य का उदय उत्तर की ओर होता है), महीने से संवत्सर, संवत्सर से आदित्य, आदित्य से चंद्रमा और चंद्रमा से विद्युत् प्राप्त होती है। एक अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म-प्राप्ति कराता है। यही देवयान मार्ग है।'

'और ऐसे व्यक्ति का चाहे कोई श्राद्ध करे चाहे न करे, उसे अर्चिः की प्राप्ति हो जाती है; अर्चिः से दिन, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः महीने (जब सूर्य का उदय उत्तर ओर होता है), महीने से संवत्सर, संवत्सर से आदित्य, आदित्य से चंद्रमा और चंद्रमा से विद्युत्। एक अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति कराता है; यही देवयान मार्ग है। इस मार्ग से जानेवाले को फिर मानव-आवर्त्त में लौटना नहीं पड़ता।'

बादरायण ब्रह्मसूत्र में इस देवयान मार्ग की आलोचना की गई है। उसमें लिखा है, सभी साधकों को इस देवयान मार्ग का अवलंबन करके इन उच्चतर लोकों में जाना पड़ता है—

अर्चिरादिना तत् प्रथितेः ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ३ । १

इस देवयान मार्ग के अनेक पर्व (Stages) हैं—अर्चिः, दिवा, शुक्लपक्ष, उत्तरायण और संवत्सर प्रभृति । बादरायण कहते हैं कि अर्चिः प्रभृति मार्गचिह्न अथवा भोगभूमि नहीं हैं। ये तो मार्गदर्शक दिव्य पुरुष हैं, जो साधक को अपने अपने अधिकृत पर्व पार करा देते हैं।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ३ । ४-५

अर्थात्, 'उपनिषदुक्त अर्चिः, दिन प्रभृति आतिवाहिक पुरुष हैं।' शेष पर्वों में साधक एक अमानव पुरुष द्वारा उच्चतम ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है।

तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान् ब्रह्म गमयति ।

'अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मप्राप्ति करा देता है।'

इस प्रकार ब्रह्मप्राप्त साधक को बादरायण 'मुक्त' कहते हैं।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।—ब्रह्मसूत्र ४ । ४ । २

इस प्रकार के मुक्त को लक्ष्य करके बादरायण कहते हैं कि उसे फिर संसार में नहीं लौटना पड़ता।

अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात् ।—ब्रह्मसूत्र, ४ । ४ । २२

'ब्रह्मलोकगत मुक्त की फिर आवृत्ति नहीं होती,—श्रुति ने ऐसा ही कहा है।' ब्रह्मलोक-प्राप्त साधक की यह अनावृत्ति आत्यंतिक है या आपेक्षिक ? इस संबंध में उपनिषद् का कथन है—

ब्रह्मलोकान् गमयति । ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति ।

—बृहदारण्यक, ६ । २ । १५

'वे लोग ब्रह्मा की दीर्घ आयु तक ब्रह्मलोक में रहते हैं ।'

स खलु एवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते । न च पुनरावर्त्तते ।—छान्दोग्य, ८ । १५ । १

'जब तक ब्रह्मा की आयु है तब तक वे इस प्रकार ब्रह्मलोक में रहते हैं । वे फिर लौटते नहीं ।'

गीता के उपदेश से हमको ज्ञात होता है कि ब्रह्मलोक से भी आवर्त्तन हो सकता है । गीता का वचन है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्ज्जन्म न विद्यते ॥

—गीता, ८ । १५,१६

'अर्थात्, मुझे प्राप्त कर लेने पर फिर महात्माओं का वह पुनर्जन्म नहीं होता जो दुःख का घर और अनित्य है । उनको परम सिद्धि प्राप्त हो जाती है । हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से भी जीव लौट सकता है; किंतु मुझे प्राप्त कर लेने पर फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।' इससे पता लगता है कि ब्रह्मलोक-प्राप्त साधक की, कल्प के भीतर, आवृत्ति होती तो नहीं है किंतु

कल्प की समाप्ति होने पर उसे भी लौटना पड़ता है। इस श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामी लिखते हैं—

ब्रह्मलोकस्यापि विनाशित्वात् तत्रत्यानां अनुत्पन्नज्ञानानां अवश्यम्भावि पुनर्जन्म। य एवं क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिः ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्र उत्पन्नज्ञानानां ब्रह्मणा सह मोक्षो नान्येषाम्। मामुपेत्य वर्त्तमानानां तु पुनर्जन्म नास्त्येव।

अर्थात्, 'ब्रह्मलोक जब विनाशी है तब ब्रह्मलोक-गत जीव का भी अवश्य ही पुनर्जन्म होगा, बशर्ते कि उसे ज्ञान उत्पन्न न हुआ हो। जो लोग ऐसी क्रममुक्ति-फलदायक उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं उन्हें, वहाँ रहते समय, यदि ज्ञान हो जाता है तो वे (कल्पांत में) ब्रह्मा के साथ मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं; अन्य लोग नहीं कर सकते। किंतु परमेश्वर की प्राप्ति हो जाने पर फिर कभी पुनर्जन्म नहीं होता।'

यहाँ पर श्रीधर स्वामी ने नीचे लिखे स्मृति-वाक्य की ओर ध्यान दिया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानो प्रविशन्ति परं पदम्॥

'कल्पांत में जब प्रलय उपस्थित होता है तब वे लोग ब्रह्मा के साथ, ब्रह्मा की आयु के अंत में, कृतार्थ होकर परम पद को प्राप्त कर लेते हैं।'

ब्रह्मसूत्र में भी यही भाव है—

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम् अभिधानात् ।

—ब्रह्मसूत्र, ४ । ३ । १०

'कार्य (ब्रह्मांड) के अंत में उसके अध्यक्ष ब्रह्मा के साथ वे लोग परम तत्त्व (ब्रह्म) को प्राप्त होते हैं। श्रुति ने यही कहा है।'

अतएव यह सिद्धांत बनाना होगा कि यद्यपि ब्रह्मलोकवासी की स्थिति स्वर्गलोकवासी की अपेक्षा बहुत अधिक है, किंतु कल्प के अंत में उसका भी पतन अर्थात् जन्मांतर होता है—बशर्ते कि इस दर्मियान में वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी न हो गया हो। क्योंकि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर फिर उसे लौटना नहीं पड़ता; वह परम पद का अधिकारी हो जाता है। अतएव बादरायण सूत्र में कही हुई अनावृत्ति का यही भाव समझना होगा।

इसी से पंडितवर श्री कालीवर वेदांतवागीश ने शांकर भाष्य के अपने अनुवाद में इस अनावृत्ति के प्रसंग में लिखा है—"यहाँ पर एक और सिद्धांत का उल्लेख आवश्यक है। वह यों है—

जो लोग ईश्वरोपासना किए बिना ही—अर्थात् पंचाग्नि-विद्या का अनुशीलन, अश्वमेध यज्ञ, सुदृढ़ ब्रह्मचर्य इत्यादि कर्म के बल से—ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं उनका, तत्त्वज्ञान न होने से, कल्प के क्षय अथवा प्रलय के अंत में पुनर्जन्म होता है। किन्तु जो लोग ईश्वरोपासना और तत्त्वज्ञान के नियम से ब्रह्म-लोक प्राप्त कर लेते हैं उनको फिर लौटना नहीं पड़ता। वे

कल्प का अंत होने पर ब्रह्मा के साथ उत्पन्न ब्रह्मदर्शन, अर्थात् तत्त्वज्ञानी, होकर परिमुक्त हो जाते हैं।"

गीता में इस प्रसंग में अन्यत्र कहा है कि जीव यदि परमेश्वर के समीप पहुँच सके तभी वह आवृत्ति के पचड़े से बच सकता है, नहीं तो नहीं।

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।—गीता, १५।६

'जहाँ जाने से फिर लौटना नहीं पड़ता वही मेरा परम धाम है।' परमेश्वर को लक्ष्य करके गीता में अन्यत्र यही बात कही गई है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥—गीता, ८।२१

'जिसे परम गति कहते हैं, और जिसे पा जाने से फिर प्रत्यावर्तन नहीं करना पड़ता—वही अव्यक्त अक्षर मेरा परम धाम है।'

यही वास्तविक अनावृत्ति है। इस अनावृत्ति को लक्ष्य करके गीता में कहा गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥—५।१७

'परमेश्वर में जिनकी बुद्धि है, परमेश्वर ही जिनका आत्मा है, परमेश्वर में जिनकी निष्ठा है और परमेश्वर ही जिनके लिये परायण है ऐसे ज्ञान द्वारा पाप धो डालनेवालों

की फिर आवृत्ति नहीं होती।' यही जन्मांतर की निवृत्ति का, आत्यंतिक अनावृत्ति का, एकमात्र उपाय है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

—श्वेताश्वतर ३।८

'उसे जान लेने पर ही मृत्यु (जन्मांतर) को पार किया जा सकता है। अनावृत्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।'